खण्ड 7
चतुर्विध प्रमाण एवं द्वादश प्रमेय निरूपण

खण्ड 7 का परिचय

भारतीय वैदिक षड् दर्शनों में से एक है – महर्षि गौतम के द्वारा प्रणीत न्यायदर्शन। इसका विषय है – प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अर्थ अर्थात् जगत् के पदार्थो का परीक्षण करना अर्थात् उनका यथार्थ रूप से ज्ञान करना। (प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् न्यायः। – न्यायदर्शनम्, वात्स्यायनभाष्यम् 1.1.)। शब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाय, तो यह न्याय शब्द नि उपसर्ग पूर्वक इण् गतौ धातु से भाव या करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। इस प्रकार (नियमेन ईयते ज्ञायते – प्राप्यते सः न्यायः। अर्थात् किसी भी कथन को सुन कर नियम के द्वारा उस कथन की वास्तविकता को जान लेना या उस कथन की तह तक निश्चित रूप से पहुँच जाने का नाम न्याय है। यह न्याय शब्द गौतम ऋषि के द्वारा प्रणीत एक दर्शन शास्त्र के लिये प्रसिद्ध है। इस न्याय दर्शन में प्रमाणों की विचारणा की गई है, अतः इसे प्रमाणशास्त्र के रूप में भी जाना जाता है। साथ ही इसे तर्कशास्त्र (अर्थात् युक्ति की विद्या) या आन्विक्षिकी (अर्थात् सोच विचार करके तथ्य को जानने की विद्या) भी कहा जाता है। इस न्यायशास्त्र का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि

प्रदीपः सर्वविद्यानाम् उपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।।

अर्थात् विविध विद्याओं के संदर्भ में यह न्यायविद्या सभी विद्याओं का प्रदीप है, सभी कर्मों का उपाय है तथा सभी धर्मों का आश्रय है।

इस न्यायशास्त्र की पढ कर व्यक्ति स्वयं के व्यवहार में होने वाली त्रुटियों से बच सकता है। क्वचित् स्वयं की गई त्रुटि को जान सकता है, तो क्वचित् किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की गई त्रुटि को भी जान सकता है। स्वयं को तथा कदाचित् दूसके को भी उसके द्वारा की गई त्रुटि का निश्चय करा सकता है। इतना ही नहीं यदि कोई व्यक्ति वाद–विवाद में धोखा देना चाहता है, तो उस धोखे को जान कर उससे स्वयं को बचा भी सकता है। यदि कोई कहे कि इस शास्त्र को पढ कर, जान कर जो व्यक्ति दूसरे के धोखे को जान सकता है, वह व्यक्ति दूसरे को धोखा भी दे सकता है। पर, वस्तुतः किसी को धोखा देना तो अन्याय है, न्याय तो धोखे से बचने का नाम है। अतः इस शास्त्र को पढने वाला नैयायिक तभी तक नैयायिक रहता है, जब तक वह स्वयं किसी को धोखा नहीं देता। इस प्रकार यह न्याय विद्या प्रत्येक मनुष्य के लिये उपयोगी है, अतः इस विद्या की जानकारी करवाने के उद्देश्य से पाठ्यक्रम के अन्तर्गत प्रस्तुत खण्ड 7 – न्यायसूत्र का निर्धारण किया गया है। यहाँ ज्ञातव्य है कि सूत्र शैली में रचित न्यायदर्शन में कुल मिला कर 530 सूत्र हैं। इन सूत्रों को अध्यायों में विभाजित कर के रखा गया है। अध्याय की संख्या पांच है। इन पांच अध्यायों को पुनः आह्निक में विभाजित किया है। प्रत्येक अध्याय में दो दो आह्निक हैं। इस प्रकार कुल मिला कर इस ग्रन्थ में पांच अध्याय, दश आह्निक तथा पांच सो तीस (530) सूत्र हैं। (प्रथम अध्याय में 61, द्वितीय अध्याय में 140, तृतीय अध्याय में 150, चतुर्थ अध्याय में 119 तथा अन्तिम पञ्चम अध्याय में 68 सूत्र हैं। अर्थात् न्यायदर्शन में कुल मिला कर 538 सूत्र हैं।) इन सूत्रों पर महर्षि वात्स्यायन का रचा हुआ भाष्य उपलब्ध है। इसके सहयोग से सूत्रों को समझा जाता है।। न्याय दर्शन का केन्द्रवर्ती प्रमुख विषय निःश्रेयस का अधिगम अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति है। न्यायशास्त्र के कर्ता का मानना है कि मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान से होती है। मोक्ष को प्राप्त करने वाले व्यक्ति को जिनका तत्त्वज्ञान होना चाहिये, वे कुल मिलाकर षोडश पदार्थ बताये गये हैं, जो इस प्रकार से है – 1. प्रमाण 2. प्रमेय 3. संशय 4. प्रयोजन 5. दृष्टान्त 6. सिद्धान्त 7. अवयव 8. तर्क

9. निर्णय 10. वाद 11. जल्प 12. वितण्डा 13. हेत्वाभास 14. छल 15. जाति 16. निग्रहस्थान। (देखें – प्रमाण – प्रमेय – संशय – प्रयोजन – दृष्टान्त – सिद्धान्त – अवयव – तर्क – निर्णय – वाद – जल्प – वितण्डा – हेत्वाभास – छल – जाति दृ निग्रह–स्थानानां तत्त्व–ज्ञानान् निःश्रेयसाधिगमः।। न्याय सूत्र 1.1.1.)। प्रस्तुत खण्ड समग्र न्यायसूत्र में से (न्यायानुमत षोडश पदार्थों में से) मात्र प्रथम दो पदार्थ – 1. प्रमाण तथा 2. प्रमेय को निर्धारित कर संकल्पित है। न्यायसूत्र (या न्यायदर्शन) के मत में प्रमाण चार है – 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान तथा 4. शब्द। इन चार प्रमाणों पर यहाँ विचार किया जाना है। साथ ही इन प्रमाणों से जिन का ज्ञान होता है, उन प्रमेयों पर भी विचार किया जाना है। महर्षि गौतम ने अपने न्यायशास्त्र में प्रमेयों की संख्या द्वादश (12) बताई हैं। जिनमें प्रथम है आत्मा तथा अन्तिम (बारहवाँ) है अपवर्ग। इन बारह प्रमेयों का अध्ययन यहाँ अपेक्षित रखा गया है। इस निर्धारित अंश को भी तीन इकाई में विभाजित करके रखा गया है। इनमें से इराई – 25 के अन्तर्गत प्रत्यक्ष प्रमाण (1.1.3 – 1.1.4) का समावेश किया गया है। जब कि इकाई – 26 में अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण (1.1.5. – 1.1.8.) के विमर्श का समावेश किया गया है। तीसरी तथा अन्तिम इकाई – 27 प्रमेय निरूपण के लिये निर्धारित की गई है। इसमें प्रमेय के रूप में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय (1.1.9 – 1.1.12) अर्थ, बुद्धि, मन (1.1.13 – 1.1.16) प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (1.1.17–1.1.19) फल, दुःख और अपवर्ग (1.1. 20 – 1.1.22) का अन्तर्भाव होता है उपर्युक्त तीनों इकाईयों में निर्धारित की गई विषयवस्तु के आधार के रूप में महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन के मूल सूत्रों का स्वीकार किया गया हैं। इन सूत्रों को आधार बना कर विषय वस्तु का समुचित रूप से व्याख्यान किया गया है।

इकाई 25 प्रत्यक्ष प्रमाण (1.1.3 1.1.4)

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 न्याय दर्शन तथा उसके साहित्य का परिचय

25.3 न्याय दर्शन की व्यापक उपयोगिता

25.4 न्याय दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त

- 25.4.1 प्रमाण की संख्या
- 25.4.2 प्रमाण संख्या का निर्धारण
- 25.4.3 प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की स्थिति
- 25.4.4 प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण
- 25.4.5 प्रत्यक्ष के पांच प्रकार
- 25.4.6 भ्रान्ति के प्रत्यक्ष का निरास
- 25.4.7 प्रत्यक्ष की तीन विशेषता

25.5 सारांश

25.6 बोध/अभ्यास प्रश्न

25.7 उपयोगी पुस्तकें

25.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का पढ़कर छात्र–

- न्याय दर्शन को जानेंगे।
- न्याय दर्शन के साहित्य से परिचित होंगे।
- न्याय दर्शन की व्यापकता तथा उसकी उपयोगिता को समझेंगे।
- न्याय दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त को समझेंगे।
- प्रमाण क्या है? उनकी संख्या का निर्धारण, प्रत्यक्ष अनुमान, प्रमाण की स्थिति तथा उनकी विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

25.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में छात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के बारे में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। प्रत्यक्ष प्रमाण न्याय दर्शन के अंतर्गत आता है। न्याय के दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभाष, छल, जाति और निग्रह स्थान – ये न्याय दर्शन के सोलह सिद्धान्त है। प्रमाणों की संख्या और उनका निर्धारण प्रस्तुत इकाई में छात्र अध्ययन करेंगे। प्रत्यक्ष और अनुमान–प्रमाण की स्थिति के बारें में न्याय दर्शन को स्पष्ट किया गया है।

25.2 न्याय दर्शन तथा उसके साहित्य का परिचय

भारतीय वैदिक षड् दर्शनों महर्षि गौतम के द्वारा प्रणीत न्यायदर्शन प्रसिद्ध है। इसे प्रमाणशास्त्र के रूप में भी जाना जाता है। साथ ही इसे तर्कशास्त्र (अर्थात् युक्ति की विद्या) या आन्विक्षिकी (अर्थात् सोच विचार करके तथ्य को जानने की विद्या) भी कहा जाता है। इस न्यायदर्शन में पांच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सोलह पदार्थों के लक्षण दिये गये हैं। द्वितीय अध्याय में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चार प्रमाणों का तथा संशय आदि का निरूपण है। तृतीय अध्याय में आत्मा, शरीर, मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि का निरूपण है। चतुर्थ अध्याय में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग का निरूपण है। जब कि अन्तिम पञ्चम अध्याय में जाति तथा निग्रह स्थान का निरूपण किया गया है। न्यायदर्शन का साहित्य कम से कम दो सहस्राब्दी के कालखण्ड में फैला हुआ है। इस दर्शन का मूल ग्रन्थ, जिसे आकर ग्रन्थ भी कहा जाता है – न्यायसूत्र है। इसके रचयिता महर्षि गौतम हैं। इन्हें अक्षपाद के नाम से भी जाना जाता है। न्यायशास्त्र का निरूपण सूत्र शैली में है। इन सूत्रों पर वात्स्यायन प्रणीत न्यायभाष्य उपलब्ध है। यह भाष्य ग्रन्थ प्रासादिक शैली में रचा गया है और न्यायसाहित्य में इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसा माना जाता है कि आचार्य वात्स्यायन ई.सन् की चतुर्थ शताब्दी में अवतरित हुए थे। न्यायसूत्रों के आधार पर रचा गया दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है – न्यायवार्तिक। इसकी रचना आचार्य उद्योतकर ने की है। बौद्ध संप्रदाय के दिङ्गनाथ आदि आचार्यों के द्वारा वात्स्यायन के भाष्य के विधानों का जो खण्डन किया गया था, उसका निराकरण करने के लिये इस न्याय–वार्तिक की रचना की गई है, ऐसा स्वयं रचयिता ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में कहा है। इस ग्रन्थ में बौद्ध आचार्य दिङ्गनाथ तथा नागार्जुन के मतों का खण्डन किया गया है। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य वाचस्पति मिश्र के द्वारा रचित न्याय–वार्तिक–तात्पर्य टीका तथा सुप्रसिद्ध न्यायाचार्य उदयन के द्वारा रचित न्याय–वार्तिक–तात्पर्य–टीका–परिशुद्धि भी न्यायसाहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माने गये हैं।

25.3 न्याय दर्शन की व्यापक उपयोगिता

इस न्यायशास्त्र को पढ कर व्यक्ति स्वयं के व्यवहार में होने वाली त्रुटियों से बच सकता है। क्वचित् स्वयं की गई त्रुटि को जान सकता है, तो क्वचित् किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की गई त्रुटि को भी जान सकता है। स्वयं को तथा कदाचित् दूसके को भी उसके द्वारा की गई त्रुटि का निश्चय करा सकता है। इतना ही नहीं यदि कोई व्यक्ति वाद–विवाद में धोखा देना चाहता है, तो उस धोखे को जान कर उससे स्वयं को बचा भी सकता है। यदि कोई कहे कि इस शास्त्र को पढ कर, जान कर जो व्यक्ति दूसरे के धोखे को जान सकता है, वह व्यक्ति दूसरे को धोखा भी दे सकता है। पर, वस्तुतः किसी को धोखा देना तो अन्याय है, न्याय तो धोखे से बचने का नाम है। अतः इस शास्त्र को पढने वाला नैयायिक तभी तक नैयायिक रहता है, जब तक वह स्वयं किसी को धोखा नहीं देता। इस प्रकार यह न्याय विद्या प्रत्येक मनुष्य के लिये उपयोगी है।

25.4 न्याय दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त

न्याय दर्शन के अनुसार 1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन, 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा, 13. हेत्वाभास, 14. छल, 15. जाति तथा 16. निग्रहस्थान – ये षोडश (16) पदार्थ हैं। इन

पदार्थों के तात्विक, वास्तविक तथा तलस्पर्थी ज्ञान होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष ही मानव–जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। न्यायसम्मत प्रदार्थ का संक्षिप्त रूप से परिचय इस प्रकार है।

1. **प्रमाण** – किसी विषय के ज्ञान का जो साधन होता है, उसे प्रमाण कहते हैं। इस शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द – इन चार प्रमाणों का स्वीकार कर उनका निरूपण किया गया है।

2. **प्रमेय** – प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जिन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है, उन्हें प्रमेय कहा जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग – मोक्ष ये द्वादश (12) प्रमेय हैं।

3. **संशय** – मनुष्य के मन में जब किसी विषय में एक दूसरे से विरुद्ध विचार आने लगते हैं, तो उसे संशय कहते हैं। जैसे कि – किसी रस्सी को देख कर यह रस्सी है या सांप है – इत्यादि एक दूसरे से विरुद्ध विचार संशय कहलाते हैं।

4. **प्रयोजन** – जिस इष्ट को प्राप्त करने या अनिष्ट को त्याग करने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसे प्रयोजन कहते हैं।

5. **दृष्टान्त** – जिस उदाहरण का सहयोग लेकर अपने तर्क या युक्ति को प्रमाणित किया जाता है, उसे दृष्टान्त कहते हैं।

6. **सिद्धान्त** – जो तर्क, युक्ति तथा प्रमाण के आधार पर निश्चित किया जाता है, उसे सिद्धान्त कहते हैं।

7. **अवयव** – किसी पदार्थ या सिद्धान्त को अनुमान प्रमाण के आधार पर प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन – इन पांच वाक्यों से सिद्ध किया जाता है। इसे अवयव कहा जाता है।

8. **तर्क** – विषय का प्रतिपादन करने के लिये जिस युक्ति का प्रयोग किया जाता है, उसे तर्क कहते हैं।

9. **निर्णय** – जब किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान हो जाता है, तब उसे निर्णय कहा जाता है।

10. **वाद** – किसी विषय को यथार्थरूप से जानना है। तो इसके लिये दो व्यक्ति परस्पर अपने अपने तर्क, युक्ति तथा प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनके आधार पर जो कोई एक मन्तव्य सत्य सिद्ध हो जाता है और उसे दोनों व्यक्ति स्वीकार्य रखते हैं, तो उसे वाद की संज्ञा दी जाती है।

11. **जल्प** – जब दो या दो से अधिक व्यक्ति का समूह अपने अपने तर्क, युक्ति तथा प्रमाण के द्वारा किसी विषय में एक दूसरे को पराजित करने में प्रयत्नरत रहते हैं, तो उस प्रवृत्ति को जल्प कहा जाता है। जल्प नाम की इस प्रवृत्ति का उद्देश्य यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का नहीं, बल्कि सामने वाले अर्थात् दूसरे पक्ष को पराजित करना होता है।

12. **वितण्डा** – जब दो या दो से अधिक व्यक्ति का समूह अपने स्वीकृत मत को सिद्ध करने के लिये तर्क, युक्ति या प्रमाण न देकर केवल मात्र एक दूसरे के मत का खण्डन ही करते रहते हैं, तो उस प्रवृत्ति को वितण्डा कहा जाता है। इसका

उद्देश्य न तो यथार्थ का ज्ञान कर उसके स्वीकार करने का होता है, और न ही की यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का होता है। बस, सामने वाले अर्थात् दूसरे पक्ष के मत का खण्डन या विरोध करना होता है।

13. **हेत्वाभास** – अनुमान प्रमाण को साधन बना कर जब किसी विषय या पदार्थ की सिद्धि की जाती है, तब कोई हेतु दिया जाता है। इस प्रसंग में दिया जाने वाला हेतु वास्तव में हेतु न हो, पर हेतु जैसा प्रतीत होता हो, तो वह हेत्वाभास कहलाता है।

14. **छल** – जब दो पक्ष किसी विषय पर विचारणा करते हुए अपने प्रतिवादी – सामने वाले पक्ष के द्वारा कहे हुए शब्द का (वास्तविक तात्पर्य की उपेक्षा कर, उससे विरुद्ध जा कर) विपरीत अर्थ निकाल कर उसमें दोष बतलाता है, तो उसे छल कहा जाता है।

15. **जाति** – वादी जब अपने प्रतिवादी के दोष से रहित तर्क और युक्ति का किसी भी तर्क, युक्ति या प्रमाण से खण्डन करने में समर्थ नहीं हो पाता है, तब उसमें बाधा डाल कर अपनी पराजय को विजय में परिवर्तित करने का उपक्रम करता है, तो उसे जाति कहा जाता है।

16. **निग्रहस्थान** – जब वाद–विवाद के प्रसंग में कोई व्यक्ति पराजय की स्थिति में आ जाता है, तो उसे निग्रहस्थान कहते हैं।

न्यायशास्त्र के मत में ये षोडश (16) पदार्थ हैं और इनके यथार्थ ज्ञान से अपवर्ग – मोक्ष की प्राप्ति होती है।।

25.4.1 प्रमाण की संख्या

सूत्र – प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।। 1.1.3.।।

सूत्रार्थ – (प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द ये चार (प्रमाणानि) प्रमाण हैं।।

विवेचन – इस सूत्र से न्यायशास्त्र से सम्मत प्रमाणों का मात्र नामतः परिगणन कर दिया गया है। अर्थात् यहाँ पर शास्त्रकार ये प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाण हैं, ऐसा कह कर आगे बढ गये हैं। इनको चार ही क्यों माना गया है, इसके अतिरिक्त कोई प्रमाण हैं कि नहीं, हैं तो उनका स्वीकार क्यों नहीं किया गया है – इत्यादि इस विषय से संबद्ध जिज्ञासाओं का सूत्रकार कोई समाधान नहीं देते हैं। (परन्तु न्यायसूत्र पर रचित भाष्यादि के आधार पर इन बिन्दुओं पर इस प्रकार से विचार किया गया है। (न्यायसूत्रतात्पर्यसंस्कृत टीका) वार्तिककारेण शास्त्रस्य त्रिविधा प्रवृत्तिः शङ्का–समाधान–पूर्वकं विशदं न्यरूपि। यदि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः त्रिविधैव तर्हि विभागवचनं निरर्थकमिति इमां शङ्कां निराकुर्वन् वार्तिककारो∫वोचत् कृ उद्दिष्टविभागो लक्षणसामान्याद् उद्देश एवान्तर्भवति। नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देश इति समानं लक्षणम्। उद्देशे पदार्थ–सामान्यस्य नामधेयेन कथनं विभागे च पदार्थभेदस्य नामधेयेन कथनम्। पदार्थ–सामान्यस्य भेदानां नियमनमेव विभागस्य प्रयोजनम्। यदि "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" (1.1.3) इति विभागो न क्रियेत, तर्हि नियमो न बुध्यते, चत्वार्येव प्रमाणानीति। लक्षणं पदार्थस्य इतरेतरव्यवच्छेदहेतुत्वान्नियमं तु कर्तुं न शक्नोति।। न्यायभाष्यम् 1.1.3.

इसका सार यह है कि इस न्याय शास्त्र की प्रवृत्ति 1. उद्देश्य, 2. लक्षण तथा 3. परीक्षा

के रूप में तीन प्रकार से होती है।। यदि ऐसा है तो यहाँ सूत्रकार ने प्रमाण के विभाग बताने के लिये जिस सूत्र रूप वचन कहा है, वह निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार की शंका प्रस्तुत करके उसका निराकरण करते हुए कहा है कि यह जो प्रमाणों का विभाग कहा गया है वह लक्षणसामान्य होने से उद्देश के अन्तर्गत आ जाता है।

वस्तुतः पदार्थ—सामान्य के भेदों का नियमन करना ही विभाग के उपदेश का प्रयोजन है। यदि "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि" (1.1.3) इस सूत्र के द्वारा विभाग न किया जाय, तो इस नियम की जानकारी ही नहीं होती है कि चार ही प्रमाण होते हैं।

भाष्यकारेण चतुर्णामपि प्रमाणभेदानां प्रमाणस्य च समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् लक्षणानि उपन्यस्तानि इति। सूत्रकारेण प्रमाणसामान्यस्य पृथक् लक्षणं न प्रस्तुतम्। भाष्यकारस्तु प्रमाणं लक्षयन् बभाषे कृ "उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि"। प्रमाणस्य व्युत्पत्तिलभ्यं लक्षणमपि भाष्यकारोऽभाषिष्ट कृ "प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो प्रमाणशब्दः"। अर्थात् प्रमाकरणत्वं प्रमाणलक्षणत्वेन प्राप्यते। वस्तुत इदमेव व्युत्पत्तिलभ्यं लक्षणं सूत्रकारस्याभीष्टमतो तेन श्प्रमाणानिश इत्येवोक्तम्, प्रमाणं पृथङ् न लक्षितम्।।

इस उपर्युक्त भाष्य का आशय यह है कि – भाष्यकार ने चारों प्रमाणभेदों का प्रमाण शब्द के निर्वचन के सामर्थ्य से ही लक्षण हो जायेगा, ऐसा मान कर सूत्रकार ने प्रमाणसामान्य का अलग से कोई लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। पर, इस सूत्र पर जो भाष्य रचे गये हैं, उसमें प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा है कि – "उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि"। अर्थात् किसी पदार्थ या विषय की उपलब्धि का जो साधन है, वह प्रमाण है। साथ ही प्रमाण शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी प्रमाण का लक्षण हो सकता है। तद्यथा "प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो प्रमाणशब्दः"। अर्थात् जिस के द्वारा किसी विषय या वस्तु का ज्ञान किया जाता है, वह साधन रूप तत्त्व प्रमाण है। इसी को ध्यान में रख कर कुछ नैयायिकों नें प्रमाकरणं प्रमाणम् – इस प्रकार से प्रमाण का लक्षण किया है।

वस्तुतः प्रमाण शब्द का यही व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही सूत्रकार के मत में प्रमाण का लक्षण है। इस कारण से सूत्रकार ने प्रमाण का अलग से लक्षण नहीं दिया है।)

25.4.2 प्रमाण संख्या का निर्धारण

प्रमाणों को लेकर दर्शन शास्त्र में बहुत विस्तार से विचार हुआ है। इस विचार में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं – 1. किसी भी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान इन प्रमाणों से होता है। अर्थात् ये किसी वस्तु, किसी विषय या किसी पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान करने में साधन के रूप में उपयोग में लाए जाते हैं। 2. इन प्रमाण रूप साधनों की संख्या निर्धारित नहीं है। दर्शन शास्त्र में कहीं एक, कहीं दो, कहीं तीन तो कहीं चार – इत्यादि रूप से प्रमाणों की विविध संख्या स्वीकार्य रखी गई हैं। प्रस्तुत गौतम प्रणीत न्याय शास्त्र (दर्शन) में प्रमाणों की चार संख्या निर्धारित की गई है।

25.4.3 प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण की स्थिति

कोई कह सकता है कि अकेले प्रत्यक्ष प्रमाण से ही काम चल जायेगा, इसके अतिरिक्त दूसरे तीन प्रमाणों को मानने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे विचार वाले व्यक्ति के लिये यह कहना होता है कि – यदि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त दूसरे तीन प्रमाणों का स्वीकार नहीं करेंगे, तो बहुत से विषय—वस्तु—पदार्थों का ज्ञान नहीं हो पायेगा। जैसे कि जो पदार्थ अत्यन्त समीप हैं, या जो पदार्थ अत्यन्त दूर है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से संभव

नहीं होता है। जैसे कि आंख में लगे हुए काजल का या कहीं बहुत दूर खडे वृक्ष का प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ज्ञान होना संभव नहीं है।

इसी प्रकार यदि कोई कहें कि यदि प्रत्यक्ष और अनुमान – इन दो ही प्रमाणों को माना लिया जाय, तो क्या हानि होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि अनुमान भी प्रत्यक्ष पदार्थ का होता है। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ज्ञान नहीं हुआ है, उसका अनुमान के आधार पर ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः जो मनुष्य प्रत्यक्ष नहीं है ऐसे धर्म आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये ये दो प्रमाण अपर्याप्त रह जाते हैं। इसी प्रकार से जीवात्मा, मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों से अनुभूत न होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाने जा सकते हैं। इसलिये कहीं शब्द तो कहीं उपमान प्रमाण की आवश्यकता रहती है। इसी कारण से न्यायशास्त्रकार ने प्रमाणों की संख्या चार की मानी है।।

25.4.4 प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण

अब प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण बताते हैं

सूत्र – इन्द्रियार्थसन्निकषोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।। 4।।

सूत्रार्थ – (इन्द्रियार्थसन्निकषोत्पन्नम्) जो (ज्ञान) इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय)के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होने वाला हो और जो (ज्ञानम्) ज्ञान (अव्यपदेश्यम्) व्यपदेश्य न हो, (अव्यभिचारि) व्यभिचारी न हो तथा (व्यवसायात्मकम्) व्यवसायात्मक हो, उसे (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष कहते हैं।

विवेचन – मानव शरीर में नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा ये पांच इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं। इन्हें बाह्य इन्द्रिय माना गया है। इनके अतिरिक्त एक छट्ठी मन नामक इन्द्रिय भी है। इसे अन्तरिन्द्रिय माना जाता है।

इन सभी इन्द्रियों का अपने अपने अर्थ अर्थात् रूप आदि के साथ सम्बन्ध होने से, जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

25.4.5 प्रत्यक्ष के पांच प्रकार

मनुष्य शरीर में घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र – ये पांच ज्ञान–इन्द्रियाँ हैं। इन पांच ज्ञानेन्द्रिय से अलग अलग प्रकार के विषय का ज्ञान होता है, इस कारण से प्रत्यक्ष को भी पांच प्रकार का माना गया है। तद्यथा – मानव शरीर में एक चक्षु नामक इन्द्रिय है। इस चक्षु इन्द्रिय के सन्निकर्ष से मनुष्य को जगत् में स्थित किसी वस्तु के आकार – प्रकार, लम्बाई – चौड़ाई, रूप – रंग इत्यादि का ज्ञान होता है। इस प्रकार के ज्ञान को चाक्षुष प्रत्यक्ष कहते हैं।

साथ ही ध्यातव्य है कि जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस पदार्थ का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से ही उस उस पदार्थ में रहने वाली जाति तथा उस पदार्थ के अभाव का भी ग्रहण किया जाता है। इस स्थिति में किसी व्यक्ति के नेत्र से किसी घट आदि का जो सन्निकर्ष होता है, वह घट में रहने वाली घटत्व जाति, रूप में रहने वाल रूपत्व जाति आदि का भी प्रत्यक्ष कराता है।

इसी तरह से श्रोत्र नामक इन्द्रिय है। इस श्रोत्र इन्द्रिय से मनुष्य को शब्द का ज्ञान होता है।

अर्थात् कान से सुन करके व्यक्ति अच्छे – बुरे, मधुर – कर्कश का और शब्द के भाव अर्थात् शब्दार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। इसी प्रकार से तीसरी इन्द्रिय जो घ्राण अर्थात् नासिका है, उसके द्वारा मनुष्य को सुगन्ध या दुर्गन्ध का ज्ञान होता है। चतुर्थ रसना (जिह्वा) इन्द्रिय है। इस रसना ज्ञानेन्द्रिय से विविध प्रकार के रसों का अर्थात् कड़वे, मीठे, कटु इत्यादिक षड् रसों का ज्ञान होता है। पञ्चम इन्द्रिय त्वक् या त्वचा है। इस त्वचा (चमडी – खाल) इन्द्रिय से सर्दी – गर्मी, कठोरता – कोमलता, नर्म – मर्म इत्यादि का ज्ञान होता है।

बाह्य रूप में स्थित ये पांचों इन्द्रियाँ आन्तरिन्द्रिय मन के साथ संयुक्त होकर ही प्रत्यक्ष (ज्ञान) करवाती है। यदि ये बाह्य इन्द्रियाँ मन के साथ संयुक्त नहीं होती, तो व्यक्ति को प्रत्यक्ष (ज्ञान) नहीं हो पाता है।

सार यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषय से सम्बद्ध हो, ऐसा ही ज्ञान कराती है। इसको हम एक उदाहरण से समझने का प्रयत्न करेगें। जैसे किसी ने किसी को कहा – यह गुड बहुत ही मधुर है। जब किसी व्यक्ति ने इस वाक्य को सुना तो वह अपनी श्रोत्र नामक इन्द्रिय से शब्दगत अर्थ का प्रत्यक्ष (ज्ञान) तो कर सकता है। गुड मधुर है, यह शब्दात्मक ज्ञान तो हो गया, पर गुड के माधुर्य का प्रत्यक्ष करने के लिये उसे जिह्वा की त्वच् का आश्रय लेना पडता है। जब वह अपनी जिह्वा की त्वचा का गुड के साथ संबन्ध प्रस्थापित करता है, तब उसे माधुर्य क्या होता है, इसका प्रत्यक्ष (ज्ञान) होता है।

25.4.6 भ्रान्ति के प्रत्यक्ष का निरास

इस संदर्भ में एक विशेष बात ध्यातव्य है। मानव शरीर में स्थित इन्द्रिय का विषय के साथ मात्र सम्बन्ध हो जाने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष माना जाता है, पर सर्वत्र एक सी स्थिति नहीं होती है। क्योंकि यदि हम सर्वत्र एक जैसी स्थिति मान लेते हैं, तो भ्रांति को भी प्रत्यक्ष (ज्ञान) के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। यह भ्रान्ति भी आखिर तो इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से ही पैदा होती है। जैसे कि – गर्मी के दिनों में पक्के मार्ग पर, या नदी के सूखे हुए रेती के पट्ट पर जल होने की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में मार्ग या रेती से आंख इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, और तब जल की प्रतीति या ज्ञान होता है। पर, निकट जाने पर वहाँ जल की प्रतीति नहीं होती। वस्तुतः वहाँ जल था ही नहीं। केवल जल की भ्रान्ति हो रही थी। ऐसी स्थिति में केवल इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने मात्र के प्रत्यक्ष माना जाय, तो इस भ्रांति को या इस भ्रान्त ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा।

महर्षि गौतम ने इस प्रकार के अतिव्याप्ति दोष से बचने के लिये प्रत्यक्ष का लक्षण देते हुए सूत्र में 1. अव्यपदेश्यम्। 2. अव्यभिचारि तथा 3. व्यवसायात्मकम् – इन तीन विशेषण पदों का उच्चारण किया हैं। इन विशेषण पदों के कारण विषय तथा इन्द्रिय के संबन्ध से उत्पन्न होने वाले उस ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना जाता है, जो इन विशेषण पदों के द्वारा बताई हुई तीन विशेषता वाला हो।

सार यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान की विशेषताओं को बताने के लिये सूत्र में ज्ञान के विशेषण के रूप में 1. अव्यपदेश्यम्। 2. अव्यभिचारि तथा 3. व्यवसायात्मकम् – इन तीन पदों को रखा गया है। इतना ही नहीं भ्रान्ति भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष (ज्ञान) होने पर भी न्याय दर्शन के मत में उसे प्रत्यक्ष (ज्ञान) के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है।

25.4.7 प्रत्यक्ष की तीन विशेषताएँ

प्रथम विशेषण पद है – अव्यपदेश्यम्। अर्थात् यह प्रत्यक्ष व्यपदेश्य नहीं होना चाहिये। अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान मात्र शाब्दिक ही नहीं होना चाहिये, बल्की वह अनुभवात्मक भी होना चाहिये। जैसे कि – गुड शब्द को सुन कर जो ज्ञान होता है, वह तो शब्द मात्र का ज्ञान है। इसलिये इसे व्यपदेश्य कहते हैं। परन्तु जब गुड को आंखों से देखा कर उसके आकार–प्रकार को, स्वरूप को जाना जाता है, नासिका से सुंघ कर उसमें स्थित गन्ध को जाना जाता है, हाथ से उसका स्पर्श करके गुड की कोमलता या कर्कशता को जाना जाता है तथा मुख से चख करके जब उसके स्वाद को जाना जाता है। इस तरह गुड नामक पदार्थ के साथ अपनी इन्द्रियों का संबन्ध प्रस्थापित करके उससे संबद्ध सर्व प्रकार का प्रत्यक्ष (ज्ञान) होता है, उस प्रत्यक्ष (ज्ञान) को इस सूत्र में अव्यपदेश्य शब्द से कहा गया है।

प्रत्यक्ष की दूसरी विशेषता है उसका अव्यभिचारी होना। वह प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष माना जाता है जो अव्यभिचारी होता है। सूत्रकार का आशय यह है कि जो प्रत्यक्ष (ज्ञान) व्यभिचारी है, उसे प्रत्यक्ष (ज्ञान) नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान में अव्यभिचारी पना का होना एक आवश्यक शर्त है।

यहाँ व्यभिचार शब्द का अर्थ कुछ लोग विनाश करते है, तो कुछ लोग दोष करते हैं। इन दोनों अर्थों को सामने रख कर अव्यभिचारी शब्द का अर्थ विचारा जाय, तो जो विनाश को प्राप्त नहीं होता है, वह अव्यभिचारी है। अथवा जो दोष से रहित होता है, वह अव्यभिचारी है। तद्यथा – रण प्रदेश में रेती के मार्ग पर मध्याह्न में यात्रा करते हुए सुदूर स्थान में जल दिखाई देता है। वस्तुतः वहाँ जल नहीं होता, पर आँखों से जल के प्रत्यक्ष जैसा ज्ञान होता है। परन्तु जब उस स्थान तक पहुँच करा आँखों से देखने पर जल का जो प्रत्यक्ष हुआ था, वह विनष्ट हो जाता है, मिट जाता है। क्योंकि वहाँ जल तो था ही नहीं, वह तो मृगजल था। इस प्रकार से जो प्रत्यक्ष होता है, वह व्यभिचारी कहलाता है। ऐसा व्यभिचारी ज्ञान न हो, उसे प्रत्यक्ष माना जाता है।

प्रत्यक्ष की तीसरी विशेषता है – व्यवसायात्मकम्। व्यवसायात्मक का आशय निश्चयात्मक ज्ञान से है। इन्द्रिय के संन्निकर्ष से जो ज्ञान हो, वह निश्चयात्मक हो, संशय से रहित हो। तभी वह प्रत्यक्ष की कोटि में आता है। जैसे कि कभी कभी अन्धकार भरे मार्ग में चलते हुए थोडे दूर स्थान पर सूके हुए वृक्ष का तना आ जाता है, तो उसे देख कर संशय होता है कि क्या यह कोई खम्भा है, या फिर कोई आदमी है, या फिर कोई पशु है ? इस प्रकार का जो संशयात्मक ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में नहीं आता।

25.5 सारांश

इस इकाई में न्याय दर्शन का प्रथम तो संक्षेप से परिचय करवाया गया है। उसके पश्चात् न्याय शास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के तीसरे तथा चौथे सूत्र के अर्थ का विमर्श किया गया है। तीसरे सूत्र से न्याय शास्त्र के द्वारा स्वीकृत षोडश पदार्थों में से प्रथम क्रम पर आने वाले प्रमाण नामक पदार्थ की संख्या का बोध होता है। प्रमाणों का संख्या का बोध हो जाने के पश्चात् उन चार प्रमाणों का एक एक करके लक्षण दिया गया है। इस क्रम में चौथे सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण उपदिष्ट है। प्रत्यक्ष प्रमाण के इस लक्षण में 1. प्रत्यक्ष के प्रकार तथा 2. प्रत्यक्ष प्रमाण की विशेषताओं की सम्यक् प्रकार से बोध करवाया गया है। इकाई 25 में न्यायसंमत चार

प्रमाणों में जो प्रथम क्रम पर है, उस प्रत्यक्ष प्रमाण के अध्ययन–अध्यापन का लक्ष्य रखा गया है। चार बिन्दुओं को समुचित रूप से स्मरण में रखना है। तद्यथा न्याय दर्शन (या शास्त्र) के अनुसार पदार्थों की संख्या षोडश (16) है। इन में से प्रथम दो पदार्थ हैं – 1. प्रमाण तथा 2. प्रमेय। 2. न्यायदर्शन का मत है कि प्रमेय की सिद्धि अर्थात् प्रमेय का ज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है। 3. प्रमाण की संख्या चार है। 1. प्रत्यक्ष, 2. अनुमान, 3. उपमान तथा 4. शब्द। 4. षोडश (16) पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर मानव जीवन के लक्ष्य भूत अपवर्ग – मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि इस इकाई से न्यायशास्त्र के अध्ययन का हम प्रारंभ कर रहे हैं, इसलिये सर्वप्रथम हमें न्यायसूत्र (या न्यायशास्त्र या न्यायदर्शन) से संबद्ध कुछ प्राथमिक तथा आवश्यक जानकारी होनी अनिवार्य है। जैसे कि – प्रमाण साधन है। प्रमाण रूप साधन के द्वारा प्रमेय का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति जिस प्रक्रिया से होती है, उस प्रक्रिया को ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया कहा जाता है। न्यायदर्शन के विषयवस्तु को संक्षेप तथा सरलता की दृष्टि से बताना हो, तो उसे हम ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया के रूप में बता सकते हैं। हम जानते हैं कि मानव की महिमा ज्ञान से है। इतना ही नहीं बिना ज्ञान के मानव का जीना असंभव सा हो जाता है। इसलिये प्रत्येक मानव प्रत्येक क्षण किसी न किसी रूप से ज्ञान की प्राप्त के लिये प्रयत्नशील रहता है। इस स्थिति में मानव के मन में ये प्रश्न उठते रहते हैं – 1. ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है। 2. ज्ञान के उत्पन्न होने की प्रक्रिया किस प्रकार होती है। 3. ज्ञान किस को होता है। 4. ज्ञान प्राप्ति के साधन क्या क्या हैं। इन और ऐसी कई बातों के प्रति प्रत्येक मानव को जिज्ञासा रहती है। इस जिज्ञासा का समाधान करना आवश्यक हो जाता है। इस आवश्यकता की पूर्ति न्याय–शास्त्र के द्वारा उपदिष्ट ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया के बोध से होती है। सातवें खण्ड की प्रस्तुत 25 वीं इकाई में हम इसी प्रकार की विविध जिज्ञासाओं का योग्य समाधान पाते रहेगें। अध्ययन–अध्यापन की इस प्रवृत्ति के दरम्यान आने वाले पारिभाषिक (तकनीकी) तथा क्लिष्ट शब्दों का अर्थ भी प्रतीतिकारक रूप से देते रहेगें। अन्त में विस्तृत अध्ययन में उपयोगी होने वाली कुछ पुस्तकों की सूचि भी दे दी गई है।। इति शम्।।

25.6 शब्दावली

न्याय – प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः। अर्थात् प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण।

तर्कशास्त्र – युक्ति की शास्त्र।

सूत्र – स्वल्पाक्षर वाला, असंदिग्ध वाक्य।

आह्निक – प्रकरण की एक संज्ञा। अर्थ के अनुरूप विचार किया जाय, तो एक दिन में जितना अध्ययन–अध्यापन हो सकता है, उतना भाग आह्निक कहा जा सकता है।

मोक्ष – जन्म मरण के चक्र से छूट जाना, मानव के जीवन का निर्धारित किया हुआ अन्तिम लक्ष्य। चार पुरुषार्थों में से एक।

प्रमाण – प्रमाकरणं प्रमाणम्। अर्थात् प्रमा (ज्ञान) के प्राप्त करने का जो करण अर्थात् साधन है, वह प्रमाण है।

इन्द्रिय – नेत्र, श्रोत्र, नासिका, मुख तथा त्वचा आदि शरीर के अवयव।

निरास – निराकरण।

अतिव्याप्ति – अपेक्षित क्षेत्र की मर्यादा से बाहर हो जाना।

शाब्दिक – शब्द से होने वाला।

25.7 बोध/अभ्यास प्रश्न

1) निम्न लिखित प्रश्नों का संक्षेप से उत्तर दीजिये।

   1. न्यायशास्त्र के मतानुसार पदार्थ की संख्या कितनी है ?
   2. गौतम प्रणीत न्यायशास्त्र किस पद्धति में रचा गया है ?
   3. न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष का क्या लक्षण दिया गया है ?
   4. इन्द्रिय सन्निकर्ष का क्या अर्थ है ?
   5. नेत्रेन्द्रिय से किसका प्रत्यक्ष होता है ?

2. संक्षेप में टिप्पणी लिखिए –

   1. प्रमाणों की संख्या।
   2. प्रत्यक्ष और भ्रान्ति।
   3. इन्द्रिय सन्निकर्ष के प्रकार।
   4. प्रत्यक्ष प्रमाण का अव्यभिचारित्व।

3. अधोलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये –

   1. न्यायदर्शन का मुख्य सिद्धान्त क्या है ?
   2. प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण देकर उसे समझायें।
   3. इन्द्रिय सन्निकर्ष को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

25.8 उपयोगी पुस्तकें

क. न्यायदर्शन (हिन्दी अनुवाद) श्री उदयवीर शास्त्री, प्रकाशक – गोविन्दराम हासानन्द, नई दिल्ली

ख. न्यायदर्शन (हिन्दी अनुवाद) श्री आर्य मुनि जी, प्रकाशक – हरियाणा संस्कृत संस्थान, गुरुकुल झज्झर, रोहतक (हरियाणा)

ग. भारतीय दर्शन शास्त्र (हिन्दी) प्रो. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, प्रकाशक – साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ (उ.प्र.)

घ. न्यायदर्शनम्, वात्स्यायनभाष्यसहितम् (संस्कृत)

ङ. सर्वदर्शनसंग्रहः (संस्कृत) माधवाचार्यकृत

इकाई 26 अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण (1.1.5 – 1.1.8)

इकाई की रूपरेखा

26.1 अनुमान प्रमाण का लक्षण

26.2 अनुमान के प्रकार

 26.2.1 पंचावयव वाक्य

 26.2.2 अनुमान के दो प्रकार

26.3 उपमान प्रमाण का लक्षण

26.4 उपमान प्रमाण की उपयोगिता

26.5 शब्द प्रमाण का लक्षण

25.6 शब्द प्रमाण के प्रकार

26.7 सारांश

26.8 शब्दावली

26.9 बोध/अभ्यास प्रश्न

26.10 उपयोगी पुस्तकें

26.1 अनुमान प्रमाण का लक्षण

प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का उपदेश करने के पश्चात् अब क्रम से अनुमान प्रमाण का लक्षण बताते हैं –

सूत्र – अथ तत्पूर्वकं त्रिविधम् अनुमानम् पूर्ववत् शेषवत् सामन्यतोदृष्टं च।। 5।।

पदच्छेद – अथ (अव्यय) तत्पूर्वकम् (1.1.) त्रिविधम् (1.1.) अनुमानम् (1.1.) पूर्ववत् (अव्यय) शेषवत् (अव्यय) सामन्यतो–ष्टम् (1.1.) च (अव्यय)।। सूत्रार्थ – (अथ) अब अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण करने क पश्चात् (तत्पूर्वकम्) तत् अर्थात् उस प्रत्यक्षपूर्वक होने वाला (त्रिविधम्) तीन प्रकार का (अनुमानम्) अनुमान प्रमाण होता है। (इसके तीन प्रकार इस प्रकार हैं –) (पूर्ववत्) पूर्ववत् (शेषवत्) शेषवत् तथा (सामन्यतोदृ ष्टम् च) सामान्यतोदृष्ट।

(इस सूत्र पर भाष्यादि में जो विचार हुआ है वह इस प्रकार है – इदमनुमानप्रमाणलक्षणमित्यत्र विप्रतिपत्तिर्नास्ति। भाष्यकारमतानुसारेण ष्तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिन्नदर्शनं चाभिसम्बध्यते। ष अत्र सूत्रे 'तत्पूर्वकम्' इति अनुमानलक्षणम्। लिङ्गपरामर्शरूपमनुमानमित्यव– धारणार्थं वार्तिककृता भाष्यकारकथनं संगमय्य सम्यगवोचि – ष्तानि ते तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्। यदा तानीति विग्रहः, तदा समस्तप्रमाणाभिसम्बन्धात् सर्वप्रमाणपूर्वकत्वमनुमानस्य वर्णितं भवति। पारम्पर्येण पुनस्तत् प्रत्यक्ष एव व्यवतिष्ठते इति प्रत्यक्षपूर्वकत्वमुक्तं भवति। यदापि विग्रहः ते द्वे पूर्वे यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति। कतरे द्वे प्रत्यक्षे? लिङ्ग–लिङ्गि–सम्बन्ध–दर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम्, लिङ्गदर्शनं च द्वितीयम्। बुभुत्सावतो द्वितीयात् लिङ्ग–दर्शनात् संस्काराभिव्यक्त्यनन्तरकालं स्मृतिः, स्मृत्यनन्तरं च पुनर्लिङ्गदर्शनमयं धूम इति। तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या

चानुगृह्यमाणं लिङ्गपरामर्शरूपमनुमानं भवति।

वस्तुतो वार्तिककृता 'तत्पूर्वकम्' इत्यनुमानलक्षणस्य 'लिङ्गपरामर्शे' या सङ्गतिरकारि सा अतीव विशिष्टा। अनया एतादृश्या चान्यया विशिष्टव्याख्यया वार्तिककारस्य आन्वीक्षिकीसमीक्षादक्षत्वं स्थापितम्। अनुमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधायक–व्युत्पत्त्या अनुमानप्रमाणस्य अनुमितिकरणत्वं लक्षणं सूचितम्। तच्च लिङ्गपरामर्शरूपमेवेति। धूमेनाऽग्निविषया–प्रतिपत्तिरनुमानस्य फलम्। अनुमानस्य पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति भेदत्रयं भाष्यकारेण द्विविधलक्षणोदाहरणैः व्याख्यातमिति सर्वं स्पष्टमेवाऽस्ति।

सार यह है कि प्रस्तुत सूत्र अनुमान प्रमाण का लक्षण है, इस बात में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। भाष्यकार का मत है कि 'तत्पूर्वकम्' इस पद से लिङ्ग और लिङ्गी के सम्बन्ध का तथा लिङ्ग का दोनों के दर्शन का संबन्ध है। इस सूत्र में जो तत्पूर्वक पद है, वह एक प्रकार से अनुमान का लक्षण है। इस लक्षण रूप पद में जो समास है, उसे बताते हुए वार्तिककार तथा भाष्यकार ने जो कहा है, वह इस प्रकार है – तानि ते तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्। साथ ही जब – तानीति विग्रहः, तदा समस्त–प्रमाणाभिसम्बन्धात् सर्वप्रमाण–पूर्वकत्वमनुमानस्य वर्णितं भवति। अर्थात् तानि पद का निर्देश करके जब विग्रह किया जाता है, तब इस अनुमान का सभी प्रमाणों के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है। इससे अब अनुमान प्रमाण केवल प्रत्यक्ष पूर्वक नहीं, परन्तु सर्व–प्रमाण–पूर्वक होकर रहता है। साथ ही जब – ते द्वे पूर्वे यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य प्रत्यक्षस्य तदिदं तत्पूर्वकं प्रत्यक्षमिति। इस प्रकार का विग्रह दिया जाता है, तब कौन से दो प्रत्यक्ष? यह प्रश्न होता है। इसका उत्तर है – एक लिङ्ग–लिङ्गि–सम्बन्ध–दर्शन वाला प्रत्यक्ष तथा दूसरा लिङ्गदर्शन वाला प्रत्यक्ष। बुभुत्सा वाले द्वितीय लिङ्ग–दर्शन के कारण संस्काराभिव्यक्ति होती है। उसके अन्तर स्मृति होता है। स्मृति के अनन्तर फिर से लिङ्ग का दर्शन होता है। जैसे कि – अयम् धूम इति। इस प्रकार से यह जो अन्तिम प्रत्यक्ष है, वह पूर्व के दो प्रत्यक्ष के कारण तथा स्मृति से गृहीत होता हुआ लिङ्गपरामर्शरूप अनुमान हो जाता है।

आगे कहा गया है – वस्तुतो वार्तिककृता श्तत्पूर्वकम्श इत्यनुमानलक्षणस्य लिङ्गपरामर्शे या सङ्गतिरकारि सा अतीव विशिष्टा। अनुमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधायक–व्युत्पत्त्या अनुमानप्रमाणस्य अनुमितिकरणत्वं लक्षणं सूचितम्। तच्च लिङ्गपरामर्शरूपमेवेति। धूमेना ग्निविषया–प्रतिपत्तिरनुमानस्य फलम्। अनुमानस्य पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति भेदत्रयं भाष्यकारेण द्विविधलक्षणोदाहरणैः व्याख्यातमिति सर्वं स्पष्टमेवाऽस्ति।

अर्थात् वस्तुत वार्तिककार ने श्तत्पूर्वकम्श इस पद को अनुमान का लक्षण बताया है और शलिङ्गपरामर्श के साथ उसकी जो सङ्गति की है, वह अतीव विशिष्ट है। साथ ही – अनुमीयते नेनेति इस करणार्थ में सिद्ध हुआ अनुमान शब्द अनुमानप्रमाण के अनुमितिकरणत्व के लक्षण को सूचित करता है। और वह लिङ्गपरामर्शरूप ही होता है। इस प्रकार धूम के द्वारा अग्नि रूप विषय की प्रतिपत्ति अनुमान का फल बन जाता है। साथ ही अनुमानस्य पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं चेति भेदत्रयं भाष्यकारेण द्विविधलक्षणोदाहरणैः व्याख्यातमिति सर्वं स्पष्टमेवास्ति। अर्थात् अनुमान को पूर्ववत् , शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट – इन तीन भेदो को द्विविध लक्षण – उदाहरण से समझाया है। यह सब अपने आप में स्पष्ट है।।)

विवेचन – अनुमान का लक्षण देते हुए सूत्र में जो कहा गया है, उसमें प्रमुख बात है – अनुमान का तत्पूर्वक होना। इस शब्द में जो तत् शब्द है वह प्रत्यक्ष का बोध करता है। इसलिये तत्पूर्वक का आशय है अनुमान प्रमाण का प्रत्यक्षपूर्वक होना। अर्थात् प्रथम

तो साध्य–साधक के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है और बाद में जब अनुमान का प्रसंग आता है, तब साधन का प्रत्यक्ष हो जाता है इसको हम इस तरह से समझ सकते हैं। किसी प्रसंग से कोई व्यक्ति रसोई घर में जाता है। रसोई घर में अग्नि जल रहा होता है। इस व्यक्ति के नेत्र इन्द्रिय का जब अग्नि रूप विषय के साथ सन्निकर्ष होता है, तब उस व्यक्ति को अग्नि का प्रत्यक्ष (ज्ञान) होता है – यह अग्नि है। उस व्यक्ति ने जब अग्नि का प्रत्यक्ष किया, तब उसने देखा कि अग्नि के जलने पर धुआँ निकलता है। इससे उसको यह निश्चय हो जाता है, कि धुएँ का कारण अग्नि है। अर्थात् जब अग्नि प्रज्वलित किया जाता है, तब उससे धुआँ अवश्य उठता है। इस प्रकार व्यक्ति यह जान लेता है कि धुआँ अग्नि के कारण से उठता है। यदि अग्नि नहीं हो, तो धुआँ भी नहीं होगा।अग्नि के कारण धुआँ होता है, विना अग्नि के धुआँ उठ नहीं सकता है, इस प्रकार का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे न्यायदर्शन की भाषा में व्याप्तिज्ञान कहा जाता है। इस व्याप्ति ज्ञान को बताने के लिये न्यायशास्त्र में यह वाक्य प्रसिद्ध हो गया है – यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः। (जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि–अग्नि होता है।)

इस प्रकार अग्नि का प्रत्यक्ष करने वाला व्यक्ति अग्नि तथा धुएँ के मध्य प्रवर्तित साध्य–साधक संबंध (अर्थात् व्याप्ति) को साक्षात् रूप में देख लेता है। बाद में वह किसी अन्य प्रसंग पर इस व्याप्ति के आधार पर अग्नि का अनुमान करता है। इसलिये सूत्र में तत् पद रख कर सूचित किया गया है कि जब कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष (ज्ञान) करके व्याप्ति का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे किसी अन्य स्थान पर जिस का अभी वर्तमान में प्रत्यक्ष किया गया है, उसका का अनुमान हो पाता है।

सार यह है कि जब किसी व्यक्ति को कोई वस्तु या विषय का प्रत्यक्ष (ज्ञान) सिद्ध हो जाता है, तब जाकर उस व्यक्ति को अनुमान सिद्ध हो पाता है। बिना प्रत्यक्ष के अनुमान की सिद्धि नहीं होती है। बस, इसी बात को कहने के लिये सूत्रकार ने अनुमान का लक्षण करते हुए उसे तत्पूर्वक बताया है।

अनुमान के संदर्भ में एक ओर बात ध्यातव्य है। वह यह कि अनुमान को सिद्ध करने के लिये उपर जिस साध्य–साधक संबन्ध रूप व्याप्ति का उल्लेख हुआ है, उस संदर्भ में स्मरण रखना है कि – 1. साध्य को लिङ्गी तथा साधक को लिङ्ग भी कहा जाता है। अर्थात् साध्य–साधक के लिये कहीं लिङ्ग–लिङ्गी शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

न्यायदर्शनकार आचार्य गौतम का मानना है कि जब किसी व्यक्ति को किसी एक स्थान पर किसी एक प्रसंग में किसी विषय या वस्तु के साथ अपने नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष हो जाने पर उस विषय या पदार्थ का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रत्यक्ष को हो जाने के बाद कालान्तर में इस प्रत्यक्ष (ज्ञान) की स्थिति नहीं होती, पर उसका संस्कार आत्मा में रह जाता है। कालान्तर में यही संस्कार अनुमान के लिये सहायक बनता है।

इसलिये समझने के लिये एक दृश्य की परिकल्पना करते हैं। तद्यथा – एक व्यक्ति वन में विचरण कर रहा है। उसे भोजन पकाने के लिये या शीत से रक्षा पाने के लिये या फिर प्रकाश के लिये अग्नि की आवश्यकता प्रतीत होती है। अग्नि उसके पास नहीं है। वह अग्नि को प्राप्त करने के लिये वन में इधर उधर घूम रहा होता है। उसी समय वह कहीं दूर स्थान पर उठने वाले धुएँ को देखता है। किसी समय में उसने जब अग्नि का प्रत्यक्ष किया था, तब वहाँ अग्नि से उठने वाले धुएँ को भी देखा था और व्याप्ति ज्ञान कर लिया था। उस काल में किये गये प्रत्यक्ष का संस्कार उसके

आत्मा में स्थित था, अब उसका आश्रय लेकर वह धुएँ का प्रत्यक्ष करके नहीं दिखाई देने वाले (अर्थात् वर्तमान में जो प्रत्यक्ष नहीं है, उस) अग्नि का अनुमान करता है।

26.2 अनुमान के प्रकार

यह अनुमान प्रमाण तीन प्रकार का है–

1) पूर्ववत्। जिस अनुमान में कारण का आश्रय लेकर कार्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे पूर्ववत् अनुमान की कोटि में रखा जाता है। इसका उदाहरण है – बादल और वर्षा। (विशेष – पूर्ववत् पद में पूर्व शब्द के साथ वत् प्रत्यय जुडा हुआ है। पूर्व पद (पहले का अर्थात्) कारण का बोध कराता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह वत् प्रत्यय दो रूप में है – एक मतुप् के रूप में है और दूसरा वति के रूप में है। दोनों के अपने अपने अलग अलग अर्थ है। मतुप् प्रत्यय मानने पर पूर्ववत् का अर्थ होगा – (पहले – पूर्व अर्थात्) कारण वाला। तात्पर्य है – कारण से कार्य का अनुमान होगा। अनुमान का यह प्रकार ही पूर्ववत् है।)

   इस प्रकार के अनुमान में कारण का आश्रय लेकर कार्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उदाहरण के रूप में – हम सभी जानते हैं कि बादल के कारण वर्षा होती है। आकाश में जब बादल आते हैं, तब उन बादलों से वर्षा होती है। (अर्थात् वर्षा होने के लिये आकाश में बादल का होना अनिवार्य होता है। आकाश बादल रूप कारण प्रथम प्रकट होता हैं। उसके बाद इस कारण रूप बादल से वर्षा रूप कार्य होता है। (इस घटना के आधार पर निश्चय किया जाता है कि बादल कारण है और उस कारण से वर्षा रूप कार्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार बादल तथा वर्षा के बीच कारण–कार्य–भाव संबन्ध होता है।

   इस कारण–कार्य–संबन्ध के आधार पर, जब कभी आकाश में बादलों का तो प्रत्यक्ष हो रहा हो, पर वर्षा रूप कार्य (अभी जो नहीं हुई है, उस वर्षा कार्य) का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार के अनुमान को आचार्य गौतम के द्वारा पूर्ववत् अनुमान के रूप में स्वीकृत रखा गया है।

   इसी प्रकार रोग रूप कारण से मरण रूप कार्य का अनुमान हो जाता है। इसलिये अभी मरण का भले ही प्रत्यक्ष न हुआ हो, पर पूर्वकाल में रोग के कारण हुई मृत्यु की घटना के आधार पर व्यक्ति रोग को देख कर, रोग का प्रत्यक्ष करके, उसके आधार पर मरण रूप कार्य का ज्ञान कर लेता है। यही अनुमान पूर्ववत् अनुमान की कोटि में आता है।

2) शेषवत्। इस प्रकार के अनुमान में पूर्व मे विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य को शेष माना जाता है। अतः यहाँ शेष पद से कार्य का बोध होता है। (शेषवत् अर्थात् कार्यवत्। कार्य वाला कारण।) तात्पर्य है कि जहाँ कार्य से कारण का अनुमान हो, वह शेषवत् अनुमान है। जैसे कि – नदी में नित्य प्रति जल का जो स्तर देखा जाता था, आज उससे स्थान पर स्तर को बढता हुए देखा जा रहा है। जल के बढते हुए स्तर को अर्थात् कार्य को देख कर – आगे उपर कहीं वर्षा हुई है, इस प्रकार से वर्षा का (कार्य का) अनुमान किया जाता है। नदी में जल के स्तर का बढना कार्य है, और इस कार्य के देख कर वर्षा होने रूप कारण का अनुमान कर लिया जाता है।इसी परंपरा में जब धुएँ रुप कार्य से अग्नि रूप कारण का अनुमान किया जाता है, तब वह भी शेषवत् अनुमान का उदाहरण बनता है।

3) सामान्यतोदृष्ट। समान पद का अर्थ एकसा है। इस समान शब्द से स्वार्थ में ष्यञ् (य) प्रत्यय होकर सामान्य शब्द बनता है। जिसका अर्थ भी – एक सा ही होता है। इस सामान्य शब्द से तस् प्रत्यय होकर सामन्यतः पद निष्पन्न हुआ है। तदनन्तर दृष्ट (देखा हुआ) शब्द के साथ समास होकर सामन्यतोदृष्ट पद बना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सामान्यतोदृष्ट पद का अर्थ है – एक समान भाव से देखा गया। सार यह है कि कोई वस्तु या व्यक्ति एकत्वेन अर्थात् एक रूप से अनेक स्थानों में देखा जाता हो, उसे सामान्यतोदृष्ट कहा जाता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न स्थान पर एकत्वेन दिखा गया व्यक्ति या पदार्थ जब किसी अदृष्ट का अनुमान करवाता है, तो वह अनुमान सामान्यतोदृष्ट नाम से (तीसरे प्रकार का) जाना जाता है। उदाहरण के रूप में – कुछ मास पूर्व मैंने जिस देवदत्त नामक व्यक्ति को दिल्ली में देखा था। वही देवदत्त नामक व्यक्ति आज हरिद्वार में मेरे समक्ष उपस्थित है। मैं उसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। मुझे प्रत्यक्ष रूप से जो देवदत्त दिखाई दे रहा है, वह किसी अदृष्ट का अनुमान करवा रहा है। अर्थात् वह किसी समय दिल्ली में था आज यदि वही एकत्वेन वर्तमान देवदत्त हरिद्वार में मेरे समक्ष उपस्थित है, तो वह अवश्य ही किसी प्रकार से यात्रादि करके यहाँ आया होगा। इस प्रकार मैं तो देवदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ और उस प्रत्यक्ष के आधार पर, जिसे मैंने देखा ही नहीं है उस अदृष्ट यात्रादि का अनुमान कर लेता हूँ। इस तरह से किये गये यात्रादि अदृष्ट के अनुमान के कारण इस अनुमान को सामान्यतोदृष्ट के नाम से अलग प्रकार में रखा गया है। एक ओर दूसरा उदाहरण लेते हैं। आम का पका हुआ फल एक समान रूप से कभी पेड पर, कभी दुकान में, कभी घर मे, कभी थाली में दिखाई देता है। इस स्थिति में एक व्यक्ति किसी एक अवसर पर खेत में खडे हुए आम के पेड पर पके हुए आम के फल का प्रत्यक्ष कर लेता है। कुछ समय के बाद वही व्यक्ति जब पके हुए आम के फल को थाली में रखे हुए देखता है। अब यहाँ थाली में रखे हुए आम के फल को देख कर वह व्यक्ति उसके आम के पेड पर लगने तथा वहाँ से तोड कर किसी के द्वारा यहाँ पर लाने की क्रिया–प्रकिया का (कि जो उस व्यक्ति के लिये अदृष्ट ही है), अनुमान कर लेता है। इस प्रकार से जो अदृष्ट है, उसका अनुमान कर लेना सामन्यतोदृष्ट प्रकार की कोटि का अनुमान माना गया है।

26.2.1 पंचावयव वाक्य

वस्तुतः अनुमान–प्रमाण एक विशिष्ट प्रकार के वाक्य–समूह के द्वारा किसी अदृष्ट विषय या वस्तु के ज्ञान करने कर सकने की पद्धति है। अनुमान प्रमाण के द्वारा किसी विषय, वस्तु या सिद्धान्त का ज्ञान करने के लिये जिन वाक्यों की परिकल्पना की जाती है, वे पांच है और उन्हें अवयव कहा जाता है। अतः न्याय शास्त्र में पंचावयव वाक्य का स्वीकार किया गया है। इन्हें क्रमशः 1. प्रतिज्ञा, 2. हेतु, 3. उदाहरण, 4. उपनय तथा 5. निगमन – इन पांच वाक्य पंचावयव वाक्य भी कहा जाता है। इनका सोदाहरण संक्षिप्त परिचय इस प्रकार से है –

1. **प्रतिज्ञा** – साध्य का उल्लेख करना प्रतिज्ञा है। जैसे कि किसी ने कहा कि – पर्वतो वह्निमान्। (पर्वत अग्नि वाला है। अर्थात् सुदूर पर्वत पर अग्नि है (विशेष – इस प्रतिज्ञा में अग्नि साध्य है और पर्वत अधिकरण है। साध्य के अधिकरण को न्याय की भाषा में पक्ष कहा जाता है।)

2. प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिया जाता है, वह हेतु शब्द से कहा जाता है। जैसे कि – धूमात्। (धुएँ के कारण) यह हेतु वाक्य है। (उपर हमने

देखा था कि अग्नि के कारण धुआँ होता है, विना अग्नि के धुआँ उठ नहीं सकता है, इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् व्याप्ति ज्ञान के आधार पर – यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः। (जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि–अग्नि होता है।) वस्तुतः यहाँ पर इस प्रकार की व्याप्ति का स्मरण किया जाता है।

3. जो हेतु दिया जाता है, उसे उदाहरण के द्वारा पुष्ट किया जाता है। जैसे कि – महानसवत्। (रसोई घर के समान) अर्थात् जैसा कि हमने किसी प्रसंग पर किसी काल में रसोई घर में देखा था। याद रहें – इस प्रकार के वाक्य को दृष्टान्त वाक्य भी कहते हैं।

4. उदाहरण के द्वारा जो बात कही जाती है, उसका उपसंहार करने वाला वाक्य उपनय है। तद्यथा – तथा चायम्। (वैसा ही यह है।) अर्थात् जैसे हमने रसोई घर में अग्नि से उठने वाले धुएँ को देखा था, वैसा ही यह अग्नि से उठने वाला धुआँ दिखाई दे रहा है। और अन्त में

5. प्रतिज्ञा का पुनः निर्देश करते हुए अनुमान से पदार्थ की सिद्धि करना निगमन है। जैसे कि – तस्मात्तथा। (उस कारण से यह वैसा है।) अर्थात् सुदूर स्थित वह पर्वत रूप स्थान अवश्य ही अग्नि वाला है।आशय यह है कि – सुदूर पर्वत पर भले ही अग्नि दिखाई न देता हो, तो भी धुएँ को देख कर वहाँ अग्नि होने का अनुमान कर लिया जाता है।

इसे पुनः एक उदाहरणरूप दृश्य को आकारित करके समझेंगे। मानो कि दूर किसी पर्वत पर आग लगी है। कोई व्यक्ति पर्वत से काफी दूर है और पर्वत की जो चोटी है, वह काफी उपर है। इसलिये स्वाभाविक रूप से उसे व्यक्ति को अपने नेत्र इन्द्रिय से अग्नि का संन्निकर्ष नहीं हो पा रहा है। इस सन्निकर्ष के न होने से अग्नि का प्रत्यक्ष भी नहीं हो रहा है। इस स्थिति में उस पर्वत पर लगी हुई आग के कारण जो धुआं उठता है, उस धुंए को देख कर व्यक्ति वहाँ अग्नि के होने का अनुमान कर लेता हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से नहीं परन्तु अनुमान से पर्वत पर अग्नि के होने का ज्ञान उस व्यक्ति को हो जाता है। इस प्रकार अनुमान करने के लिये सर्वप्रथम प्रतिज्ञा करनी होती है। तद्यथा – पर्वतो वह्निमान्। पर्वत अग्नि वाला है (अर्थात् पर्वत पर आग है।) अब इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये हेतु दिया जता है। तद्यथा – धूमात्। (धुँए के कारण) अर्थात् क्योंकि धुँआ दिख रहा है, इसके कारण से पर्वत पर अग्नि अवश्य है। पर, इसे तब तक मान्य नहीं किया जाता, जब तक इसको उदाहारण के द्वारा पुष्ट न किया जाय। इसलिये अब उदाहरण देते हुए कहां जाता है – (यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः। अर्थात् जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होता है। इस व्याप्ति का स्मरण करते हुए कहा जाता है –) जैसे कि रसोई घर में हमने अपनी आंखों से अग्नि के साथ धूँए को भी देखा है। एक बार नहीं, अनेक बार देखा है, प्रत्यक्ष किया है। ठीक इसी तरह से यहाँ भी धुंआँ दिखाई दे रहा है, तो वहाँ अवश्य ही अग्नि होगा।

अन्त में उपनय निकल कर आता है कि – अयं पर्वतो वह्निमान्। अर्थात् यह पर्वत अग्निवाला है। (या इस पर्वत पर अग्नि है।) इतना करने के पश्चात् निगमन के रूप में पुनः कहा जाता है कि – तस्मात् पर्वतो वह्निमान्। (धुँआ दिखाई दे रहा है, इस कारण से) पर्वत भी वह्निमान् अर्थात् अग्नि वाला है। पर्वत पर भी अग्नि लगा हुआ है। इसी प्रकार अनेकत्र अनुमान के द्वारा अनेकानेक पदार्थ, विषय, सिद्धान्त आदि का ज्ञान किया जाता है। प्रत्येक मानव अपने जीवन में इस अनुमान प्रमाण का आश्रय लेकर बहुत सा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अत एव प्रत्येक मानव को अनुमान प्रमाण के

स्वरूप, प्रकार तथा प्रक्रिया का परिचय कर लेना चाहिये।(इसी परंपरा में आप, वृक्ष से बीज का, संतान से माता–पिता का, सुख से धनादि सामग्री का, ज्ञान से पूर्वकाल में किये गये विद्याध्ययन का – अनुमान कर सकते हैं। कृति को देख कर कर्ता का अनुमान भी किया जाता है। इस प्रकार के अनुमान का प्रयोग तथा उपयोग जगत् रूप कृति को देख कर उसके कर्ता के रूप में स्थित परमात्मा का भी अनुमान किया जाता है। सभी प्रकार के अनुमान के लिये पंचावयव वाक्य प्रक्रिया उपयोगी होती है। अतः उसका आश्रय लेकर आप अनेक उदाहरण की कल्पना कर सकते हैं।

26.2.2 अनुमान के दो प्रकार

एक ओर दृष्टि से इस के दो प्रकार बताये गये हैं – 1. स्वार्थानुमान तथा 2. परार्थानुमान। कोई व्यक्ति जब अपने लिये किसी विषय या वस्तु का ज्ञान करने के लिये उपर्युक्त प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि का विचार करता है, और उसका अनुमान प्रमाण से ज्ञान कर लेता है, तो वह स्वार्थानुमान कहा जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को ज्ञान करवाने के लिये उपर्युक्त प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि का विचार करता है, और उसके द्वारा उसे ज्ञान कर लेता है, तो वह परार्थानुमान कहा जाता है।

26.3 उपमान प्रमाण का लक्षण

अनुमान प्रमाण के लक्षण का उपदेश करने के पश्चात् अब क्रम से उपमान का लक्षण बताते हैं –

सूत्र – प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।। 6।।

सूत्रार्थ – (प्रसिद्धसाधर्म्यात्) प्रसिद्ध अर्थात् ज्ञात कर लिये गये साधर्म्य – सादृश्य से (साध्य–साधनम्) साध्य का साधन – साध्य को सिद्ध करने वाला (उपमानम्) उपमान प्रमाण होता है। विवेचन – कुछ वस्तु प्रसिद्ध होती है। अर्थात् कई वस्तु ज्ञात होती है। दूसरी कुछ वस्तुएँ इस ज्ञात वस्तु से साधर्म्य अर्थात् सादृश्य रखने वाली होती है। इस साधर्म्य या सादृश्य से किसी अज्ञात अर्थात् साध्य वस्तु का साधन अर्थात् सिद्ध कर लेना उपमान प्रमाण होता है।

26.4 उपमान प्रमाण की उपयोगिता

इस प्रमाण के आधार पर व्यक्ति अपने अर्जित ज्ञान का विस्तार कर सकता है। इसे हम इस रूप से समझ सकते हैं। किसी व्यक्ति को जिस वस्तु के (गुण, कर्म, स्वभाव आदि धर्म) ज्ञात है, उनके साधर्म्य के आधार पर वह किसी अज्ञात वस्तु को जान सकता है। यह जो ज्ञान होता है, वह उपमान प्रमाण से होता है।

उदाहरण के रूप में देवदत्त को गाय के जानता है। अर्थात् वह गाय के गुण, कर्म, स्वभाव आदि धर्मों की जानकारी रखता है। पर, इस देवदत्त को नीलगाय का ज्ञान नहीं है। उसने कभी उसे देखा भी नहीं है। पर, इस देवदत्त को बस इतना कहा दिया जाता है कि गाय की तरह नीलगाय होती है। अब देवदत्त को इस बात की प्रतीति हो जाती है कि गाय के जो गुण, कर्मादि धर्म है, वैसे ही नीलगाय के होते हैं। इस प्रकार के साधर्म्य के आधार पर जब वह किसी वन प्रदेश में विचरण करने वाली नीलगाय को देखता है, तो यह नीलगाय है, ऐसा ज्ञान कर लेता है। उपमान की यही उपयोगिता है।

इसके अतिरिक्त संज्ञी (नाम वाले) और संज्ञा (नाम) का जो सम्बन्ध है, उसके आधार पर होने वाला ज्ञान भी उपमान प्रमाण के अन्तर्गत आता है। जैसे कि किसी व्यक्ति को माष (उडद) का ज्ञान है। वह माष को, उसके पौधे को, पौधे के पर्ण आदि को जानता है। इसे कहा जाता है कि माष के पर्ण जैसे पर्ण वाली माषपर्णी होती है।

अब वह किसी स्थान पर माषपर्णी को देखता है, तो माष के साधर्म्य के आधार पर उस अज्ञात माषपर्णी को भी जान लेता है, कि यह माषपर्णी हैं। सार यह है कि किसी ज्ञात वस्तु के आधार पर, साधर्म्य का आश्रय लेकर किसी अज्ञात वस्तु की जानकारी का साधन यह उपमान प्रमाण है।

26.5 शब्द प्रमाण का लक्षण

उपमान प्रमाण के लक्षण का उपदेश करने के पश्चात् अब क्रम से शब्द प्रमाण का लक्षण बताते हुए कहा है –

सूत्र – आप्तोपदेशः शब्दः।। 7।।

सूत्रार्थ – (आप्तोपदेशः) आप्त व्यक्ति का उपदेश अर्थात् कथन (शब्दः) शब्द नाम का प्रमाण है। विवेचन – आप्त एक विशेष व्यक्तत्व है। इसे अनेक प्रकार से आकारित किया गया है। तद्यथा – 1. जो किसी वस्तु के गुण, कर्म तथा स्वभाव को समुचित रूप से जानता है, वह आप्त कहलाता है। ऐसा व्यक्ति उन उन पदार्थों के गुणादि को जानकर, उसकी सत्ता और लाभों को वर्णन करता है। 2. जो विद्वान् तथा सत्य वक्ता होता है, उसे आप्त कहते हैं। इस प्रकार के आप्त पुरुष शब्द प्रमाण की कोटि में आते हैं। इनके वचनों को सुन कर हम वस्तु या व्यक्ति का ज्ञान कर सकते हैं। साथ ही आप्त का जो उपदेश है, वह भी शब्द प्रमाण को अन्तर्गत आ जाता हैं। इस दृष्टि से मनुस्मृति आदि मनु के आप्त वचन भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।

25.6 शब्द प्रमाण के प्रकार

सूत्र – स द्विविधो दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात्।। 8।।

सूत्रार्थ – (सः) वह शब्द प्रमाण (द्विविधः) दो प्रकार का होता है, (दृष्टादृष्टार्थत्त्वात) एक दृष्टार्थ तथा दूसरा अदृष्टार्थ।

विवेचन – शब्द प्रमाण को दो प्रकार का बताया गया है। प्रथम प्रकार में उस शब्द प्रमाण का समावेश होता है, जो दृष्ट हो अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सकता हो। द्वितीय प्रकार के शब्द प्रमाण में उसका समावेश होता है, जो अदृष्ट हो अर्थात् जो इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता हो। ये दोनों प्रकार के ज्ञान को श शब्द श प्रमाण कहते हैं।

उदाहरण के लिये किसी ने कहा कि जिसको पुत्र की इच्छा हो वह यज्ञ करे। यहां यज्ञ द्वारा पुत्र का उत्पन्न होना या न होना चक्षु इन्द्रिय के द्वारा जाना जा सकता है। अतः यह शब्द प्रमाण दृष्ट प्रकार में रखा गया है। दूसरा, किसी ने कहा कि जिसको स्वर्ग की कामना हो, तो वह यज्ञ करे। अब स्वर्ग सुख विशेष का नाम है और वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। अतः यज्ञ करने पर जिस स्वर्ग की प्राप्ति होने की बात कही है, उसका ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता है। अतः इस प्रकार के शब्द प्रमाण को अदृष्टार्थ की श्रेणी में रखा गया है।

26.7 सारांश

मानव के शरीर में पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। इन ज्ञानेन्द्रिय के आधार पर वह रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान कर लेता है। पर, इतने ज्ञान से मानव का व्यवहार नहीं चलता। इस स्थिति में वह अपने ज्ञान का विस्तार करने के लिये अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण की सहायता लेता है। अर्थात् मानव के पास जो भी ज्ञान होता है, वह सब मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रय से ही प्राप्त नहीं किया जाता, अपितु मानव के पास जितना भी ज्ञान है, उसमें से बहुत सा ज्ञान अनुमानादि के आश्रय से भी प्राप्त किया गया होता है।

इन चतुर्विध प्रमाणों में से मानव ज्ञानार्जन के लिये सब से अधिक शब्द प्रमाण का आश्रय लेता है। शब्द प्रमाण के आधार पर, बहुत ही सरलता से विविध प्रकार का ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। इस लिये मानवीय व्यावहारिक जगत् में शब्द प्रमाण का बहुत व्यापक उपयोग किया जाता है।। न्याय दर्शन का प्रारंभ इस सूत्र से किया गया है – प्रमाण – प्रमेय – संशय – प्रयोजन – दृष्टान्त – सिद्धान्त – अवयव – तर्क – निर्णय – वाद – जल्प – वितण्डा – हेत्वाभास – छल – जाति –निग्रह–स्थानानां तत्त्व–ज्ञानान् निःश्रेयसाधिगमः।। न्याय सूत्र 1.1.1.)। अर्थात् प्रमाण – प्रमेय – संशय – प्रयोजन – दृष्टान्त – सिद्धान्त – अवयव – तर्क – निर्णय – वाद – जल्प – वितण्डा – हेत्वाभास – छल – जाति –निग्रह–स्थान – इन षोडश पदार्थों का जब तात्त्विक रूप से ज्ञान हो जाता है, तब निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष का अधिगम अर्थात् प्राप्ति होती है।। महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन की विषयवस्तु को इस प्रारंभिक सूत्र के अनुसार ग्रथित किया है। (इस सूत्र में जिन षोडश पदार्थों का निर्देश किया है, उनका संक्षिप्त परिचय हमने इसके पूर्ववर्ती खण्ड 25 में कर लिया है।) साथ ही दूसरे सूत्र में कहा है कि – दुःख–जन्म–प्रवृत्त–दोष–मिथ्या–ज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायात् अपवर्गः।। – न्याय सूत्र 1.1.2.) अर्थात् दुःख, जन्म, प्रवृत्त, दोष तथा मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर अपाय होने पर (अर्थात् पहले दुःख, फिर जन्म, फिर प्रवृत्ति उसके पश्चात् दोष तथा अन्त में मिथ्याज्ञान के दूर होने पर) उसके बाद अपवर्ग की प्राप्ति होती है।इन दो सूत्रों के द्वारा आचार्य गौतम ने अपने ग्रन्थ न्यायदर्शन की विषय–वस्तु को प्रस्तुत कर दिया है। इसके अनन्तर आचार्य गौतम ने तीसरे सूत्र में प्रमाणों की संख्या तथा चौथे सूत्र में प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण दिया है। (इन सूत्रों का अध्ययन हमने खण्ड 25 में किया है। अब इसी परंपरा में आगे प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के पांच से लेकर आठ तक के चार सूत्रों का अध्ययन इस खण्ड में निर्धारित किया गया है। न्यायदर्शन का पांचवाँ सूत्र अनुमान का लक्षण देता है। (लक्षण के विषय में यह स्मरणीय है कि – लक्षण को अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असंभव – इन तीन दोषों से मुक्त होना होता है। अतिव्याप्ति का आशय है जहाँ तक लक्षण की प्रवृत्ति होनी चाहिये, वहाँ तक ही वह प्रवृत्त होना चाहिये। उससे आगे नहीं। यदि कोई लक्षण अपनी निर्धारित सीमा से आगे चला जाता है, तो उसे अतिव्याप्ति दोष वाला लक्षण माना जाता है। इसी प्रकार अव्याप्ति का आशय है जहाँ तक लक्षण की प्रवृत्ति होनी चाहिये, वहाँ उसकी प्रवृत्ति होनी ही चाहिये। यदि कोई लक्षण अपनी अपेक्षित सीमा तक प्रवृत्त नहीं होता, तो वह अव्याप्ति दोष से युक्त माना जाता है। इसी तरह से लक्षण को संभव होना चाहिये, असंभव नहीं होना चाहिये। न्यायदर्शन में दिये गये प्रत्यक्षादि के प्रत्येक लक्षण इन दोषों से मुक्त है।)

इसी प्रकार छट्ठे सूत्र में उपमान प्रमाण का लक्षण तथा सातवेँ सूत्र में शब्द प्रमाण का लक्षण दिया गया है। आठवें सूत्र में शब्द–प्रमाण के दो भेदों प्रदर्शित किये गये हैं।

प्रस्तुत खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का पुनरावर्तन करते हुए अनुमान, उपमान तथा शब्द – इन तीन प्रमाणों के लक्षण का अध्ययन करेगें। इससे प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह ही अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण का सम्यक् बोध होगा।इस प्रसंग में अनुमान प्रमाण के संदर्भ में अवयव का भी अध्ययन करना है, तथा पंचावयव की प्रक्रिया को भी समुचित रूप से जानना है।।

26.8 शब्दावलि

त्रिविधम्	– तीन प्रकार का।
साध्य	– सिद्ध करने योग्य।
साधक	– सिद्ध करने वाला।
साध्य–साधक–संबंध	– साध्य का साधक के साथ का संबन्ध।
कोटि	– प्रकार।
वह्निमान् – वह्ने	– अग्नि वाला।
स्वार्थानुमान	– स्व अर्थात् अपने ज्ञान के लिये किया गया अनुमान।
परार्थानुमान	– पर अर्थात् दूसरे के ज्ञान के लिये किया गया अनुमान।
साधर्म्य	– समान धर्म का भाव।
संज्ञी	– संज्ञा वाला, संज्ञा है जिसकी वह।
आप्त	– विद्या और तप से युक्त व्यक्ति।

26.9 बोध/अभ्यास प्रश्न

1. **निम्न लिखित प्रश्नों का संक्षेप से उत्तर दीजिये।**
   1. अनुमान के तीन प्रकार कौन कौन से है?
   2. मनुस्मृति आदि का समावेश किस प्रमाण के अन्तर्गत होता है?
   3. ज्ञात वस्तु की सहायता से अज्ञात वस्तु का ज्ञान किस प्रमाण से होता है?
   4. शब्द कितने प्रकार का है?
2. **संक्षेप से टिप्पणी लिखिये**
   1. अनुमान का लक्षण।
   2. पंचावयव वाक्य।
   3. उपमान की उपयोगिता।
   4. शब्द प्रमाण के उपयोग।
3. **अधोलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये**
   1. अनुमान के लक्षण को स्पष्ट कीजिये।
   2. अवयव वाक्य क्या हैं, समझायें।
   3. पूर्ववत् अनुमान को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।
   4. सामान्यतोदृष्ट प्रकार के अनुमान को सोदाहरण समझाईये।

26.10 उपयोगी पुस्तकें

क. न्याय दर्शन (विद्योदय भाष्य – हिन्दी अनुवाद) अनुवादक तथा व्याख्याकार – पं. श्री उदयवीर शास्त्री प्रकाशक – विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, 4408 नई सडक, नई दिल्ली – 110006, सन् – 2010

ख. न्याय दर्शन (हिन्दी अनुवाद) स्वामी दर्शनानन्द भाष्य, प्रकाशक – पुस्तक मन्दिर, मथुरा (उत्तर प्रदेश) सन् – 1960

ग. भारतीय दर्शन शास्त्र (हिन्दी) प्रो. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री प्रकाशक – साहित्य भण्डार, सुभाष बजार, मेरठ (उत्तरप्रदेश)

घ. न्याय दर्शनम् , वात्स्यायन भाष्य सहितम् (संस्कृत) संपादक – प्रो. गंगानाथ झा, सन् – 1924

ङ. सर्वदर्शनसंग्रहः (संस्कृत) माधवाचार्यकृत

इकाई 27 प्रमेय निरूपण – आत्मा, शरीर, इन्द्रिय (1.1.9–1.1.12) अर्थ, बुद्धि, मन (1.1.13–1.1.16) प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (1.1.17–1.1.19) फल, दुःख और अपवर्ग (1.1.20–1.1.22)

इकाई की रूपरेखा

27.1 प्रस्तावना

27.2 प्रमाण से ज्ञात होने वाले प्रमेय पदार्थ

27.3 आत्मा का लक्षण

27.4 शरीर का लक्षण

27.5 इन्द्रिय का लक्षण

27.6 पंचमहाभूत का परिगणन

27.7 घ्राण आदि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय

27.8 बुद्धि का लक्षण

27.9 मन का लक्षण

27.10 प्रवृत्ति का स्वरूप

27.11 दोष का स्वरूप

27.12 प्रेत्यभाव का स्वरूप

27.13 फल का स्वरूप

27.14 दुःख का स्वरूप

27.15 अपवर्ग का स्वरूप

27.16 सारांश

27.17 शब्दावलि

27.18 बोध/अभ्यास प्रश्न

27.19 उपयोगी पुस्तकें

27.1 प्रस्तावना

न्याय शास्त्र के अनुसार चार (4) प्रमाण हैं और द्वादश (12) प्रमेय हैं। ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया के साधन रूप प्रमाणों का अध्ययन करने के पश्चात् द्वादश प्रमेयों को जानना आवश्यक हो जाता है। अतः इस खण्ड में न्याय शास्त्र सम्मत द्वादश प्रमेयों का अध्ययन करेंगे।

27.2 प्रमाण से ज्ञात होने वाले प्रमेय पदार्थ

सूत्र – आत्मा–शरीर–इन्द्रिय–अर्थ–बुद्धि–मन–प्रवृत्ति–दोष–प्रेत्यभाव–फल–दुःख–

अपवर्गास्तु प्रमेयम्।। 9।।

प्रमेय निरूपण – आत्मा, शरीर, इन्द्रिय (1.1.9–1.1.12) अर्थ, बुद्धि, मन (1.1.13–1.1.16) प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (1.1.17–1.1.19) फल, दुःख और अपवर्ग (1.1.20–1.1.22)

सूत्रार्थ– (आत्मा–शरीर–इन्द्रिय–अर्थ–बुद्धि–मन–प्रवृत्ति–दोष–प्रेत्यभाव–फल–दुःख–अपवर्गाः) आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग – ये (बारह) (तु) तो (प्रमेयम्) प्रमेय हैं।।

विवेचन – प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित बाहर पदार्थ प्रमेय हैं। अर्थात् ज्ञान के विषय है। इन के जान लेने पर मनुष्य को अपवर्ग की अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में मनुष्य का आत्मा जन्म–मरणरूप चक्र से मुक्त हो जाता है। क्या प्रमेय बारह ही हैं या इनके अतिरिक्त अन्य भी प्रमेय हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यादि ग्रन्थों में कहा गया है – 'किं पुनः अनेन प्रमाणेन अर्थजातं प्रमातव्यमिति भाष्यकारीयप्रश्नस्य पूर्वपक्षाक्षिप्तामनुपपत्तिं वार्तिककारो निराकार्षीत्। नायं प्रश्नः अनुपपन्नः, प्रमेयविशेषविषयत्वात्। नायं प्रमाणमात्रविषयः प्रश्नो यतः प्रमेयमात्रं तु प्रमाणप्रमेय... निःश्रेयसाधिगमः। इति दण्डकसूत्रे उद्दिष्टत्वाद् अवगतम्। प्रमेय–विशेषावधारणार्थः अयं प्रश्नः भवेत्। एतदेव प्रमेयजातं यस्य प्रमाणेन यथार्थज्ञानमपवर्गाय सम्पद्यते यस्य च मिथ्याज्ञानं संसारायेति। एतदर्थप्रकाशनार्थम् आत्मादि–प्रमेय–सूत्रम्। अनेन सूत्रेण प्रमेयान्तरं न निराक्रियते।।' अर्थात् क्या इस प्रमाण के द्वारा अर्थ समूह की प्रमा करनी होती है? इस प्रकार के भाष्यकार के द्वारा किये गये प्रश्न का वार्तिककार ने निराकरण नहीं किया है। वस्तुतः यह प्रश्न अनुपपन्न नहीं है क्योंकि यह प्रमेयविशेष का विषय है। इतना ही नहीं यह प्रमाण मात्र का विषय भी नहीं है। क्योंकि प्रमेय मात्र को तो 'प्रमाणप्रमेय... निःश्रेयसाधिगमः।' इस दण्डकसूत्र में कह दिया गया होने से अवगत है।

तब प्रमेय–विशेष का अवधारण करने के लिये यह प्रश्न हो सकता है। यही प्रमेय समूह है कि जिसका प्रमाण के द्वारा यथार्थज्ञान किया जाना चाहिये। और यही यथार्थ ज्ञान अपवर्ग को सम्पन्न करवाता है। जब कि इस प्रमेय समूह का मिथ्याज्ञान संसार के लिये अर्थात् भव के बन्धन के लिये होता है। इसी बात का प्रकाशन करने के लिये आत्मादि शब्द वाला प्रमेय–सूत्र रचा गया है। इस सूत्र के द्वारा प्रमेयान्तर अर्थात् अन्य प्रमेय नहीं हैं, इसका निराकरण नहीं किया गया है।

साथ ही इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि इन बारह पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को न जानने से मनुष्य स्वयं दुःखी होता है और दूसरों को भी दुःखी करता है।

इन बाहर प्रमेयों में प्रथम तथा मुख्य आत्मा है। आत्मा से परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों का ग्रहण होता है। परमात्मा अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और सर्वज्ञ है। जीवात्मा एक देशी है, अल्पज्ञ है और कर्मों का फल भोगने वाला है। जीवात्मा के भोग का आयतन (मकान) शरीर है। इस शरीर में भोग के साधन के रूप में इन्द्रियाँ हैं। जगत् में वर्तमान विविध पदार्थ भोग्य हैं तथा इन इन्द्रियों के विषय बनते हैं। इन विषयों का इन्द्रियों की सहायता से जो भोग किया जाता है, उस भोग का अनुभव भोग (बुद्धि अर्थात्) ज्ञान है।

जगत् में वर्तमान सभी पदार्थों का ज्ञान इन्द्रिय से नहीं हो पाता हैं, अतः ऐसे परोक्ष पदार्थों का अनुभव कराने वाला मन है। इस मन में राग तथा द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस राग–द्वेष के कारण मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् अमुक पदार्थ के त्याग करने का तो अमुक पदार्थ के अङ्गीकार करने का प्रयत्न उत्पन्न होता है।

प्रत्यभाव से जीवात्मा के जन्म तथा मरण सूचित होता हैं। अच्छे बुरे कर्मों का उपभोग

फल है। यह फल दो प्रकार का माना गया है – एक को दुःख या बन्धन भी कहा जाता हैं और दूसरा अपवर्ग या मुक्ति कहा जाता है।

आगे इनका एक एक करके स्वरूप लक्षण दिया जा रहा है।

27.3 आत्मा का लक्षण

सूत्र – इच्छा–द्वेष–प्रयत्न–सुख–दुःख–ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।। 10।।

सूत्रार्थ – (इच्छा–द्वेष–प्रयत्न–सुख–दुःख–ज्ञानानि) इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, और ज्ञान – यह छ (आत्मनः) आत्मा के (लिङ्गम्) लिङ्ग अर्थात् प्रत्यायक हैं।

इच्छा आदि का आशय इस प्रकार से समझा जा सकता है – जिस प्रकार की वस्तु से पहले सुख मिला था, उसी प्रकार की वस्तु को देख कर उसे प्राप्त करने के विचार को इच्छा कहते हैं। जिस प्रकार की वस्तु से पहले कष्ट हुआ था, उसी प्रकार की वस्तु को देखकर, दूर ही से होने वाला अपनयन (दूर चले जाने) का विचार द्वेष कहलाता है। दुःख के कारणों को दूर और सुख के कारणों को प्राप्त करने की क्रिया को प्रयत्न कहते हैं। किसी वस्तु, व्यक्ति या क्रिया से मनुष्य को अनुकूलता अनुभूत होती है, तो वह सुख कहाता है। जब कि किसी वस्तु, व्यक्ति या क्रिया से मनुष्य को जब प्रतिकूलता अर्थात् बाधा, पीडा, भय, चिन्ता या अशान्ति की अनुभूति होती है, तो वह दुःख कहलाता है। किसी वस्तु आदि के स्वरूप का अर्थात् उस उस वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव को जानना ज्ञान कहलाता है।

वस्तुतः हमारे द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति में आप्तोपदेश के द्वारा तो आत्मा का प्रतिपादन किया जा सकता है। साथ ही अनुमान से भी आत्मा का प्रतिपादन किया जा सकता है, इस बात को कहने के लिये यह सूत्र रचा गया है।

वार्तिककार ने इस संदर्भ में स्पष्टीकरण देते हुए कहा है कि – जो आत्मा आगम के द्वारा प्रतिपादित किया गया है, उसी आत्मा का अनुमान से प्रतिसन्धान करने के लिये यह सूत्र उपदिष्ट है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि इच्छादि विशेष गुणों का प्रतिसन्धान करना आत्मा के अस्तित्व के अनुमान करवाने वाला है। (तुलना करें – इच्छादीनां विशेषगुणानाम् प्रतिसन्धानम् आत्मास्तित्वस्यानुमापकमिति।)

आगे कहा गया है कि – इच्छादिभिः लिङ्गैः अनुमीयमान आत्मा सामान्यतो दृष्टानुमानेन अनुमितो भवति। अर्थात् प्रमेय रूप यह आत्मा इच्छादि लिङ्गों के द्वारा अनुमीयमान होता है। इसी लिये वह सामान्यतो दृष्टानुमान से अनुमित होता है। उदाहरण के रूप में (यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते, यथेच्छादिभिरात्मा, इच्छादयो गुणाः, गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद्यदेषां स्थानं स आत्मेति।। अर्थात्) जहाँ लिङ्ग तथा लिङ्गी का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होता है, वहाँ किसी अर्थ के द्वारा लिङ्ग के सामान्य के कारण अप्रत्यक्ष लिङ्गी जाना जाता है। जैसे कि इच्छा आदि के द्वारा आत्मा। इच्छा आदि तो गुण हैं। और गुण द्रव्यसंस्थान होते हैं। अर्थात् गुण तो किसी न किसी द्रव्य में रहते हैं। इस स्थिति में ये गुण जिस स्थान में होते हैं, वह आत्मा है, ऐसा समझना चाहिये।

27.4 शरीर का लक्षण

सूत्र – चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्।। 11।।

सूत्रार्थ – (चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः) चेष्टा, इन्द्रि तथा अर्थ का जो आश्रय है, वह (शरीरम्) शरीर है।

विवेचन – इस सूत्र में शरीर का लक्षण दिया गया है। न्यायशास्त्र के अनुसार शरीर चेष्टा का आश्रय स्थान है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि यह वस्तु या क्रिया मेरे लिये लाभकर्ता है, या सुखदायक है, तब वह उस वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा करता है और उसके अनुरूप जिस क्रिया को करता है, उसे चेष्टा कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य जब यह जान लेता है कि यह वस्तु या क्रिया मेरे लिये हानिकर्ता है, या दुःखदायक है, तब वह उस वस्तु को छोड देने की इच्छा करता है और उसके अनुरूप क्रिया करता है। इसी प्रकार की क्रिया को चेष्टा कहते हैं।

इस प्रकार की सभी चेष्टाओं का आश्रय शरीर है। इसलिये शरीर को चेष्टा का आश्रय कहा गया है। साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि शरीर के द्वारा ही जीवात्मा चेष्टा करता है। बिना शरीर चेष्टा संभवित नहीं होती है।

नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा रूप आदि विषयों का सेवन जीवात्मा करता है। ये इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से शरीर के बिना जीवात्मा को सुख या दुःख का अनुभव करा सकती नहीं है। इन इन्द्रियों का आधार शरीर है, इस लिये शरीर को इन्द्रियों का आश्रय कहा गया है।

इसी प्रकार से शरीर को अर्थ का आश्रय कहा गया है। अर्थ अर्थात् सुख–दुःख का उपभोग करना। इन्द्रिय तथा विषयों के सम्बन्ध से जिस सुख–दुःख की अनुभूति होती है, वह भी जीवात्मा को होती है। वह भी बिना शरीर के संभव नहीं होती। इसलिये शरीर को अर्थ का भी आश्रय अर्थात् आधार कहा गया है।

(तुलना करें – चेष्टायाः इन्द्रियाणामर्थानां च शरीरं कथमाश्रय इति विषये भाष्यकारेण यदुक्तम् , तदवदातमेव। चेष्टायाः लक्षणं वार्तिककारेण सम्यक् कथितम् – हिताहितप्राप्ति–परिहारार्थः परिस्पन्दः।हितप्राप्तये ईप्साप्रयुक्तस्य अहितपरिहाराय च जिज्ञासाप्रयुक्तस्य यः परिस्पन्दः सा चेष्टा। शरीरानुविधानमिन्द्रियाश्रयत्वम्। न पुनः आधाराधेयभावेन इन्द्रियाणि शरीरे वर्तन्ते इति। गन्धादीनाम् अर्थानाम् यत् कार्यं सुखदुःखोपलब्धिनिमित्तत्वम्, तदसति शरीरे न भवतीति शरीराश्रया इत्युच्यन्ते। भाष्यानुसारेण वार्तिकमतेन च प्रत्येकं चेष्टाश्रयत्वादि शरीरस्य लक्षणमिति तात्पर्यमवोचत् तात्पर्यटीकाकारः। समस्तमेव शरीरलक्षणमिति मतं वार्तिककारो निराकरोति।।)

27.5 इन्द्रिय का लक्षण

सूत्र – घ्राण–रसन–चक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः।। 12।।

सूत्रार्थ – (घ्राण–रसन–चक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि) घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र – (पांच) ये (इन्द्रियाणि) इन्द्रिय हैं, जो कि (भूतेभ्यः) (पंच) भूतों से उत्पन्न होती हैं तथा उनसे सम्बद्ध हैं।

विवेचन – शरीर में घ्राण अर्थात् गन्ध के ग्रहण करने का साधन नासिका है, रसन अर्थात् रस ग्रहण करने का साधन जिह्वा है, रूप देखने का साधन चक्षु है, स्पर्श

ग्रहण करने का साधन त्वक् है तथा शब्द के ग्रहण करने का साधन श्रोत्र (कान) है।

इन पांच साधनों को ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता हैं। ये सभी पंच महाभूतों से उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः ये जो शरीरस्थ स्थूल रूप से दिखने वाले आंख, नाक आदि अवयव हैं, वे ज्ञानेन्द्रिय नहीं है, बल्कि ये तो उन उन इन्द्रियों के गोलक मात्र हैं। इन गोलकों को ही इस सूत्र में इन्द्रिय शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। ज्ञानेन्द्रियाँ इन गोलकों को माध्यम बना कर गन्ध आदि विषयों का ग्रहण (या ज्ञान) करती हैं।। इस सूत्र पर भाष्यादि में जिस प्रकार से विचार हुआ है, उसका संक्षेपतः निर्देश इस प्रकार किया गया है। – भाष्यकारेण एतत्सूत्र–व्याख्यायां प्रथमम् इन्द्रियाणां प्रत्येकस्य समाख्या–निर्वचनम् अकारि। त्वचं विहाय अन्येन्द्रियाणां मुख्यः अभिधार्थः संगच्छते, परन्तु त्वचः तु स्थाननिमित्ताद् गौणः अर्थः ज्ञायते। अर्थात् त्वक्स्थानम् इन्द्रियम् उपचारतः त्वक्–शब्देन व्यपदिश्यते। समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् एषां स्वविषय–ग्रहण–स्वभावत्वं पारिभाषिकलक्षणं ज्ञायते। असाधारणः अयं धर्मः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणाम्। करणस्वभावकानि इन्द्रियाणि इत्यपि ज्ञायते।। अर्थात् भाष्यकार ने इस सूत्र के व्याख्या में सर्वप्रथम तो प्रत्येक इन्द्रिय का निर्वचन किया है। त्वक् को छोड कर अन्य सभी इन्द्रियों का मुख्य अभिधेय अर्थ संगत हो जाता है। परन्तु त्वक् का तो स्थान के निमित्त होने के कारण गौण अर्थ ही जाना जाता है। अर्थात् त्वक्स्थान इन्द्रिय को उपचार से त्वक्–शब्द के द्वारा व्यपदिष्ट किया जाता है। क्योंकि त्वक् शब्द की समाख्या या निर्वचन उसके अर्थ को प्रकट करने में समर्थ नहीं हैं। अतः इनका स्वविषय–ग्रहण–स्वभावत्व रूप पारिभाषिकलक्षण जाना जाता है। यह असाधारण धर्म पांचो ज्ञानेन्द्रियों का है। फलतः इन्द्रियाँ करणस्वभावक होती हैं, ऐसा भी जाना जाता है।।

27.6 पंचमहाभूत का परिगणन

सूत्र – पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि।। 13।।

सूत्रार्थ – (पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशम्) पृथिवी अर्थात् भूमि, आप अर्थात् जल, तेजस् अर्थात् अग्नि, वायु और आकाश – (इति) ये पांच (भूतानि) भूत हें।

विवेचन – उपर के (12 वें) सूत्र में जिन भूतों का उल्लेख किया गया है, वे पांच भूत (महाभूत) कौन कौन से है, इसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया है। ये पांच हैं – पृथिवी, आप, तेजस्‌, वायु और आकाश। इनमें पृथ्वी से नाक, आप अर्थात् पानी से रसना, तेजस् (अग्नि) से आंख, वायु से त्वचा और आकाश से कान की उत्पत्ति होती है।।

27.7 घ्राण आदि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय

सूत्र – गन्ध–रस–रूप–स्पर्श–शब्दाः पृथिव्यादिगुणाः तदर्थाः।। 14।।

सूत्रार्थ – (गन्ध–रस–रूप–स्पर्श–शब्दाः) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द क्रमशः (पृथिव्यादिगुणाः) पृथिवी आदि के गुण हैं और (तदर्थाः) वे घ्राण आदि उन इन्द्रियों के विषय हैं।।

विवेचन – पृथ्वी आदि के गुण इन्द्रियों के अर्थ अर्थात् विषय कहलाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर 1. गन्ध गुण पृथ्वी भूत का है। 2. रस गुण जल भूत का है। 3. रूप गुण तेजस् – अग्नि भूत का है। 4. स्पर्श गुण वायु भूत का है। और 5. शब्द गुण आकाश भूत का है। इन गन्ध आदि गुणों को ग्रहण करने के लिये क्रमशः घ्राण आदि इन्द्रिय साधन बनते हैं।

27.8 बुद्धि का लक्षण

सूत्र – बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।। 15।।

सूत्रार्थ – (बुद्धिः) बुद्धि (उपलब्धिः) उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति और (ज्ञानम्) ज्ञान – (इति) ये तीनों पद (अनर्थान्तरम्) अर्थान्तर रखने वाले शब्द नहीं हैं। अर्थात् ये अलग अलग वस्तु के वाचक नहीं हैं, किन्तु एक ही के वाचक हैं।

विवेचन – इस सूत्र में कहा गया है कि बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान – ये तीनों पद पर्यायवाची हैं। अर्थात् इन तीनों पदों का अर्थ एक ही है, भिन्न भिन्न नहीं है।

वस्तुतः बुद्धि शब्द का प्रयोग दो संदर्भ से दो अर्थ में होता है। एक संदर्भ में जिस बुद्धि शब्द का प्रयोग होता है, उसकी उत्पत्ति (पंच) भूतों से मानी जाती है। पंच भूतों उत्पन्न यह बुद्धि जड (अचेतन) होती है, और वह ज्ञान को प्राप्त करने के साधन के रूप में होती है। (इसे अन्तःकरण का भाग–हिस्सा माना गया है। जबकि दूसरे संदर्भ में बुद्धि शब्द ज्ञान के रूप में स्वीकार्य है। इस रूप में यह एक प्रकार का गुण है, जो आत्मा में, चेतन में रहता है।।

27.9 मन का लक्षण

सूत्र – युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।। 16।।

सूत्रार्थ – (युगपत्) एक साथ (ज्ञानानुत्पत्तिः) ज्ञान की उत्पत्ति का न होना (मनसः) मन का (लिङ्गम्) लक्षण है, चिह्न है।।

विवेचन – इस सूत्र में मन नाम से प्रसिद्ध अन्तःकरण का लक्षण दिया गया है। नेत्र आदि इन्द्रियाँ मात्र रूप आदि विषयों का ज्ञान करवाती हैं, परन्तु स्मृति, स्वप्न, अनुमान आदि की अनुभूति इन ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से नहीं हो पाती है। इसके लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा रहती है, इस अपेक्षा की पूर्ति इस मन नाम से प्रसिद्ध साधन से होती है।

नेत्र आदि इन्द्रियाँ एक ही समय में एक साथ बाह्य विषयों का ज्ञान करती हैं, परन्तु जीवात्मा को एक ही समय में एक ही इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है। इसका कारण भी मन है। क्योंकि मन एक साथ ज्ञान की उत्पत्ति न करवा कर एक एक करके नेत्रादि इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति करवाता है। जिस समय जो इन्द्रिय मन के साथ संलग्न होती है, उस समय उसी इन्द्रिय से द्वारा आत्मा को ज्ञान होता है। जिस इन्द्रिय के साथ मन संलग्न नहीं हो पाता है, उस इन्द्रिय से आत्मा को ज्ञान नहीं होता है। जिस समय हमारा मन किसी सरस संगीत को सुनने में लगा हो, उस समय हमारे सामने से कोई गुजरता है, तो उसका हमें अपनी नेत्रेन्द्रिय से कोई ज्ञान नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि जीवात्मा को एक समय में अनेक इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को अनुत्पन्न अर्थात् उत्पन्न न होने देने में एक मात्र कारण यह मन है। जो मन की सत्ता का स्वीकार न किया जाय, तो आत्मा को एक साथ पांच ज्ञानेन्द्रिय से पांच प्रकार का ज्ञान होता है, इस बात का स्वीकार करना पडेगा, जो स्वीकृति किसी प्रकार से वास्तविक नहीं है।

27.10 प्रवृत्ति का स्वरूप

सूत्र – प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीराम्भः।। 17।।

सूत्रार्थ – (वाग्बुद्धिशरीराम्भः) वाक् – वाणी, बुद्धि तथा शरीर से किया जाने वाला जो आरंभ अर्थात् क्रिया है, उसे (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति कहा जाता है।।

विवेचन – वाणी, बुद्धि तथा शरीर के द्वारा जो पाप–पुण्यरूप कर्म किये जाते हैं, उनको सूत्रकार ने प्रवृत्ति कहा है। इस सूत्र में प्रयुक्त बुद्धि शब्द से ज्ञान नहीं, परन्तु ज्ञान का साधन मन अभिप्रेत है। वाणी, मन और शरीर का काम में लगना प्रवृत्ति कहलाती है। यदि मन अकेला काम करता है तो वह कर्म मानसिक कहलाता है। यदि मन और वाणी दोनों मिल कर काम करते हैं, तो वह वाचिक कर्म कहलाता है। और यदि मन, वाणी और शरीर मिलकर कोई कार्य करते हैं, तो वह शारीरिक कर्म कहलाता है।

इस प्रवृति के कारण पुण्य या पाप का उदय होता है। अर्थात् जब भी प्रवृत्ति की जाती है, तब अवश्य ही किसी न किसी पुण्य का या पाप का उदय होता है।।

27.11 दोष का स्वरूप

सूत्र – प्रवर्त्तनालक्षणाः दोषाः।। 18।।

सूत्रार्थ – (प्रवर्तनालक्षणाः) प्रवृत्ति अर्थात् कर्म का हेतु होने का लक्षण–स्वरूप है, जिनका उन कारणों को (दोषाः) दोष कहा जाता है।।

विवेचन – सूत्र में जिस प्रवर्तना शब्द का प्रयोग किया गया है, वह प्रवृत्ति अर्थात् कर्म के हेतु – कारण के अर्थ में हैं। तात्पर्य यह है कि अच्छे–बूरे कर्म कराने वाले को दोष कहा है। सामान्य रूप से राग, द्वेष और मोह जीव की प्रवृत्ति को करवाते हैं, अतः इन्हें दोष समझा गया है। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि सूत्रकार सीधे ही रागादि को दोष कह सकते थे, पर वैसा करने पर रागादि का और प्रवृत्ति का कारण–कार्य–भाव सूचित नहीं हो पाता। अत एव सूत्रकार ने इस कार्यकारणभाव को सूचित करने के लिये सूत्र में उनका उल्लेख नहीं किया है।

27.12 प्रेत्यभाव का स्वरूप

सूत्र – पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः।। 19।।

सूत्रार्थ – (पुनः) फिर से (उत्पत्तिः) उत्पन्न होना, जन्म लेना (प्रेत्यभावः) प्रेत्यभाव है।।

विवेचन – प्रेत्यभाव का लक्षण इस सूत्र में बताया गया है। यह जो प्रेत्यभाव शब्द है, वह प्र. इत्य. भाव – इस रूप में निष्पन्न हुआ है। प्रेत्य का आशय प्रकृष्ट रूप से जा कर। अर्थात् यहाँ से, इस शरीर से जा कर, निकल कर अर्थात् मर कर, फिर से शरीर में आना। भाव का आशय है – फिर से होना, मर कर के पुनः नया शरीर धारण करना। तात्पर्य यह है कि आत्मा एक शरीर को छोड कर, मर कर, दूसरे शरीर में जाता है, दूसरा जन्म लेता है। इस जन्म–मरण के चक्र को यहाँ प्रेत्यभाव के रूप में उपदिष्ट किया गया है।

वस्तुतः आत्मा न तो मरता है, न तो जन्म लेता है। पर, वर्तमान शरीर में आत्मा का जिस इन्द्रियसमूह के साथ सम्बन्ध होता है, उसका टूट जाना मरण है। तत्पश्चात् पुनः

किसी नवीन शरीर के अन्तर्गत इन्द्रियसमूह के साथ सम्बन्ध जुडना जन्म माना गया है। इस जन्म–मरण के यहाँ प्रेत्यभाव कहा गया है।

सार यह है कि प्रेत्यभाव शब्द मर कर जन्म लेना, पुनः मरना, पुनः जन्म लेना – इस प्रकार की अविरत चल रही प्रक्रिया का सूचक है।

प्रमेय निरूपण – आत्मा, शरीर, इन्द्रिय (1.1.9–1.1.12) अर्थ, बुद्धि, मन (1.1.13–1.1.16) प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (1.1.17–1.1.19) फल, दुःख और अपवर्ग (1.1.20–1.1.22)

27.13 फल का स्वरूप

सूत्र – प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्।। 20।।

(फलम्) फल हैं।।

विवेचन – इससे पूर्व के दो सूत्रों प्रवृत्ति तथा दोष का लक्षण दे दिया गया है। इस सूत्र में अब फल का लक्षण दिया जा रहा है। जब मनुष्य राग – द्वेष आदि मिथ्याज्ञान के कारण पाप–पुण्यादि कर्म करता है, तब उनके परिणाम के रूप में वह सुख–दुःखरूप भोग का अनुभव करता है। बस, इसी अनुभव को फल कहा गया है।

27.14 दुःख का स्वरूप

सूत्र – बाधनालक्षणं दुःखम्।। 21।।

सूत्रार्थ – (बाधनालक्षणम्) जो बाधा रूप है, जो प्रतिकूल लगता है, वह (दुःखम्) दुःख है।।

विवेचन – बाधना का अर्थ है – प्रतिकूल अनुभूति। इस अनुभूति को पीडा, ताप, चिंता, कष्ट इत्यादि शब्दों से भी कहा जाता है। कभी कभी मन को किसी वस्तु को पाने की इच्छा होती है। जब वह वस्तु मिल जाती है, तो अनुकूलता की अनुभूति होती है, पर जब वह नहीं मिलती है, तब प्रतिकूलता की अनुभूति होती है। इसी को दुःख कहा गया है।

जब मनुष्य को भूख लगती है और खाना उपस्थित होता है, तो उस भूख में प्रतिकूलता की अनुभूति नहीं होती है, अतः उस समय भूख दुःख नहीं कहलाती है। पर, जब भूख लगी हो, और भोजन विद्यमान न हो, तब वह भूख प्रतिकूलता की अनुभूति कराती है, अतः दुःख कहलाती है। इसी प्रकार जैसे मजदूर लोग अपने छोटे से घर में रहते हैं, पर उन्हें कुछ प्रतिकूलता की अनुभूति नहीं होती, अतः वह दुःख नहीं होता है। पर, यदि उनको घर से बाहर जाने का निषेध कर दिया जाय, तो वह उनके लिये प्रतिकूलता की अनुभूति होती है और वह दुःख बन जाता है।

27.15 अपवर्ग का स्वरूप

सूत्र – तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।। 22।।

सूत्रार्थ – (तत्) उस दुःख से (अत्यन्तविमोक्षः) अत्यन्त अर्थात् पूर्ण रूप से मुक्त हो जाना (अपवर्गः) अपवर्ग है।।

विवेचन – प्रमेय में सब से अन्तिम यह अपवर्ग है। सामान्य रूप से दुःखों से छूट जाने को अपवर्ग कहते हैं, पर यहाँ जिस अपवर्ग का लक्षण दिया गया है, उसमें जीव की उस स्थिति को ध्यान में रखा गया है, जिसमें जीव शरीरधारी न होकर, शरीर से विमुक्त होता है। इसका कारण यह है जीव जब तक शरीर धारण किये रहता है, तब

तक वह दुःख से छूट नहीं पाता है। शरीर के न रहने पर दुःख भी नहीं रहते हैं।

यहाँ जिसे अपवर्ग कहा है, उसे मुक्ति या मोक्ष भी कही जाता है। इस स्थिति में दुःखों का अत्यन्त अभाव होता है। पर, यदि दुःखों के अत्यन्त अभाव को मुक्ति माना जाय, तो इस प्रकार की मुक्ति चेतन जीवात्मा की नहीं, अपितु जड़ वस्तुओं की माननी पडेगी। क्योंकि जड वस्तुओं में मन का अस्तित्व न होने से, उन्हें कभी दुःख होता ही नहीं है। अतः दुःख का सर्वथा दूर हो जाना मुक्ति नहीं कही जा सकती है।

एक ओर बात भी विचारणीय है। यदि दुःख हो कर, उस दुःख से मुक्त होना मुक्ति है, तो सुषुप्ति काल में जाग्रत अवस्था के दुःख छूट जाते हैं, तो क्या वह अवस्था मुक्ति है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सुषुप्ति की अवस्था का नाम मुक्ति नहीं है। उस अवस्था में दुःखों का बीज सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहता है। उधर मुक्ति की दशा में तो सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व ही नहीं होता है। अतः सुषुप्ति को मुक्ति नहीं माना जा सकता है।।

27.16 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त खण्ड में आत्मा अर्थात् जीव का लक्षण देते हुए उसका परिचय करवाया गया है। इसके पश्चात् इस आत्मा के साथ संलग्न शरीर, इस शरीर में स्थित इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियों के अर्थ अर्थात् विषयों का भी परिचय करवाया गया है। साथ ही बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग – इन सभी प्रमेयों का एक एक सूत्र में लक्षण दिया गया है। इन लक्षण सूत्रों के अध्ययन से इन सभी प्रमेयों का सुचारु परिचय हो जाता है। परिचय के इस उपक्रम में सूत्रार्थ के साथ साथ आवश्यक विवेचन भी प्रस्तुत है, जिससे स्वल्पाक्षर सूत्र में निर्दिष्ट बिन्दुओं की भी जानकारी हो सकेगी। द्वादश प्रमेयों का जो क्रम है, वह भी ध्यातव्य है। प्रथम तो आत्मा या जीव को समझना है। उसके पश्चात् इस आत्मा के साथ जुडे हुए शरीर को, शरीर में स्थित साधनों को समझना होता है। इतनी जानकारी कर लेने के बाद ही प्रवृत्ति आदि का परिचय हो पाता है और अन्त में अपवर्ग के स्वरूप का ज्ञान हो पाता है। सार यह है कि अपवर्ग की प्राप्ति से पूर्व आत्मा आदि का स्वरूप ज्ञान होना आवश्यक है। यह आवश्यक इस खण्ड में समाविष्ट किये गये सूत्रों के द्वारा करवाया गया है।। न्याय दर्शन में जिन चार प्रकार के प्रमाणों का स्वीकार किया गया है, उनका अध्ययन करने के पश्चात् अब इस प्रकरण में प्रमेयों का अध्ययन करना है। प्रमाणों के आश्रय से जिनका ज्ञान प्राप्त करना है, उन्हें प्रमेय शब्द से परिगणित किया गया है। इनकी संख्या 12 (द्वादश) है। इनमें आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग – का समावेश होता है। महर्षि गौतम ने अपने न्यायदर्शन में इन सबका एक एक करके लक्षण दिया है। यह लक्षण सूत्र रूप में है। सूत्र स्वल्पाक्षर होता है, इसमें कही गई बात को समझने के लिये सूत्र गत पदों के अर्थ को जानने के साथ साथ उनसे संबद्ध कुछ अन्य जानकारी भी करनी होती है। तब जाकर सूत्र का अर्थ समझ में आता है। इसलिये हमने इस खण्ड में द्वादश प्रमेयों के लक्षण बताने वाले सूत्रों का अध्ययन किया। प्रस्तुत खण्ड में पूर्ववत् सूत्रार्थ के साथ साथ संक्षिप्ततः अपेक्षित विवेचन भी किया गया है।।

27.17 शब्दावली

ध्यातव्य – ध्यान करने के योग्य।

सर्वज्ञ – सर्व को जानने वाला।

एकदेशी	–	एक देश में, स्थान में रहने वाला।
अल्पज्ञ	–	अल्प अर्थात् थोडा जानने वाला।
अङ्गीकार	–	स्वीकार।
प्रत्यायक	–	प्रतीति कराने वाला, कोई चिह्न।
चेष्टा	–	क्रिया या व्यापार।
तेजस्	–	अग्नि।
विचारणीय	–	विचार करने के योग्य।

27.18 बोध/अभ्यास प्रश्न

1. **निम्न लिखित प्रश्नों का संक्षेप से उत्तर दीजिये।**
   1. आत्मा शब्द से किसका बोध होता है ?
   2. ज्ञानेन्द्रियाँ कितनी है और कौन कौन सी है ?
   3. कौन सा इन्द्रिय एक साथ दो कार्य नहीं कर पाता है ?
   4. अपवर्ग के पर्याय शब्द कौन कौन से हैं ?
2. **संक्षेप से टिप्पणी लिखिये**
   1. बुद्धि शब्द का अर्थ।
   2. प्रेत्यभाव का लक्षण।
   3. दुःख का स्वरूप।
   4. जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में अपवर्ग।
3. **अधोलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये**
   1. आत्मा के लक्षण को स्पष्ट कीजिये।
   2. पंच महाभूतों का उनके अपने अपने विषयों के साथ परिचय दीजिये।
   3. मन प्रमेय का स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

27.19 उपयोगी पुस्तकें

क. न्यायदर्शन (हिन्दी अनुवाद) श्री उदयवीर शास्त्री, प्रकाशक – गोविन्दराम हासानन्द, नई दिल्ली

ख. न्यायदर्शन (हिन्दी अनुवाद) श्री आर्य मुनि जी, प्रकाशक – हरियाणा संस्कृत संस्थान, गुरुकुल झज्झर, रोहतक (हरियाणा)

ग. भारतीय दर्शन शास्त्र (हिन्दी) प्रो. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, प्रकाशक – साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ (उ.प्र.)

घ. न्यायदर्शनम्, वात्स्यायनभाष्यसहितम् (संस्कृत) ङ. सर्वदर्शनसंग्रहः (संस्कृत) माधवाचार्यकृत